हिसाब द्वितीय व तृतीय संस्करण दैनिक जै

आय

१६६-४-६	रोकड़ बाकी (जिसकी सूची द्वितीय संस्करण दैनिक जैन चर्या में है)
६८७-०-०	चन्दा (जिसकी सूची द्वितीय संस्करण दैनिक जैन चर्या में है ।
६०१-१०-०	बिक्री व पोस्टेज पुस्तक ५००० (दैनिक जैन धर्म चर्या तीसरा सं०)
७६५-१०-६	बिक्री व पोस्टेज भक्तामर स्तोत्र नग १८२४
२३५-०-०	चन्दा जिसकी सूची दैनिक जैन धर्म चर्या तृतीय संस्करण में दी चुकी है)।
५०६-४-६	बिक्री व पोस्टेज दैनिक जैन धर्म चर्या तीसरा संस्करण ४११२ ।
...६७-१३-६	कुल जोड़

७९०-४-०	खर्च कागज व ... दैनिक जैन धर्म चर्या द्वितीय संस्करण नग ५०००
६२९-१२-०	खर्च कागज व छपाई व पोस्टेज भक्तामर स्तोत्र नग २०८६
८३२-११-३	खर्च कागज व छपाई व पोस्टेज दैनिक जैन धर्म चर्या तीसरा संस्करण नग ५०००
२२५२-११-३	
७४५-०२-६	रोकड़ बाकी
२६६७-१३-६	कुल जोड़

निवेदक—

श्रीकृष्ण जैन

दो शब्द

प्राचीन काल से ही लोगों की यह धारणा रही है कि संसार का प्रत्येक कार्य परमात्मा की इच्छा से होता है। वही वर्षा करता है और वही भूकम्प व तूफान लाता तथा ऋतु परिवर्तन करता है। यहां तक कि जीवों को कर्म फल भी वही देता है और उसकी मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता।

परमात्मा का पद एक स्वतन्त्र सम्राट् के समान माना जाता है। यह सदा से है, सबसे बड़ा है, सर्वज्ञ एवं सबका गुरु है। उसका ऐश्वर्य अविनाशी है। वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहा गया है। इसीलिये जब संसार में क्रान्तियाँ हुईं तथा राजा महाराजा और सम्राटों के पद समाप्त हुए तब रूस जैसे देशों में परमात्मा का पद तथा उसकी मान्यता को भी समाप्त कर दिया गया था।

आज विज्ञान ने अनेक विषयों में हमारी आंखें खोल दीं। अब स्कूल के बच्चे भी यह जानते है कि सूर्य की गर्मी से पानी बादल बन जाता है तथा ठण्ड पाकर वही बरस जाता है। इसमे परमात्मा का कोई काम नहीं। इसी प्रकार आंधी, तूफान तथा भूकम्प आदि का कारण भी परमात्मा नहीं, ये सभी विशेष २ कारणों से होते हैं। पर अभी भी लोग सृष्टि तथा कर्मफल को परमात्मा का ही कार्य समझते हैं।

विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में कर्म सिद्धान्त पर सभी दृष्टिकोणों से अच्छा विवेचन किया है जिससे इस समस्या की वास्तविकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आशा है इससे इस विषय के प्रेमी पाठकों को पूर्ण लाभ पहुंचेगा।

साथ ही भाई श्रीकृष्णजी इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन तथा सर्व साधारण तक उसे पहुँचाने में जिस लगन और परिश्रम से कार्य कर रहे हैं उसके लिये वे वास्तव में प्रशंसा के पात्र हैं।

[illegible] बाजार,

हीरालाल जैन "कौशल"
(साहित्यरत्न, शास्त्री, न्यायतीर्थ)

हिसाब द्वितीय व तृतीय संस्करण दैनिक जै

आय

रकम	विवरण
१६६-४-६	रोकड़ बाकी (जिसकी सूची द्वितीय संस्करण दैनिक जैन चर्या में है)
६८७-०-०	चन्दा (जिसकी सूची द्वितीय संस्करण दैनिक जैन चर्या में है ।
६०१-१०-०	बिक्री व पोस्टेज पुस्तक ५००० (दैनिक जैन धर्म चर्या तीसरा सं०)
७६५-१०-६	बिक्री व पोस्टेज भक्तामर स्तोत्र नग १८२४
२३५-०-०	चन्दा जिसकी सूची दैनिक जैन धर्म चर्या तृतीय संस्करण में दी चुकी है।।
५०६-४-६	बिक्री व पोस्टेज दैनिक जैन धर्म चर्या तीसरा संस्करण ४११३ ।
६६७-१३-६	कुल जोड़

व्यय

रकम	विवरण
७६०-४-०	खर्च कागज व [illegible] दैनिक जैन धर्म चर्या द्वितीय संस्करण नग ५०००
६२६-१२-०	खर्च कागज व छपाई व पोस्टेज भक्तामर स्तोत्र नग २०८६
८३२-११-३	खर्च कागज व छपाई व पोस्टेज दैनिक जैन धर्म चर्या तीसरा संस्करण नग ५०००
२२५२-११-३	
७४५-०२-६	रोकड़ बाकी
२६६७-१३ ६	कुल जोड़

निवेदक—
श्रीकृष्ण जैन

दो शब्द

प्राचीन काल से ही लोगों की यह धारणा रही है कि संसार का प्रत्येक कार्य परमात्मा की इच्छा से होता है। वही वर्षा करता है और वही भूकम्प व तूफान लाता तथा ऋतु परिवर्तन करता है। यहा तक कि जीवों को कर्म फल भी वही देता है और उसकी मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता।

परमात्मा का पद एक स्वतन्त्र सम्राट् के समान माना जाता है। यह सदा से है, सबसे बड़ा है, सर्वज्ञ एवं सबका गुरु है। उसका ऐश्वर्य अविनाशी है। वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहा गया है। इसीलिये जब संसार में क्रान्तियाँ हुईं तथा राजा महाराजा और सम्राटों के पद समाप्त हुए तब रूस जैसे देशों में परमात्मा का पद तथा उसकी मान्यता को भी समाप्त कर दिया गया था।

आज विज्ञान ने अनेक विषयों में हमारी आंखें खोल दीं। अब स्कूल के बच्चे भी यह जानते हैं कि सूर्य की गर्मी से पानी बादल बन जाता है तथा ठण्ड पाकर वही बरस जाता है। इसमें परमात्मा का कोई काम नहीं। इसी प्रकार आंधी, तूफान तथा भूकम्प आदि का कारण भी परमात्मा नहीं, ये सभी विशेष २ कारणों से होते हैं। पर अभी भी लोग सृष्टि तथा कर्मफल को परमात्मा का ही कार्य समझते हैं।

विद्वान लेखक ने इस पुस्तक में कर्म सिद्धान्त पर सभी दृष्टिकोणों से अच्छा विवेचन किया है जिससे इस समस्या की वास्तविकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आशा है इससे इस विषय के प्रेमी पाठकों को पूर्ण लाभ पहुंचेगा।

साथ ही भाई श्रीकृष्णजी इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन तथा सर्व साधारण तक उसे पहुँचाने में जिस लगन और परिश्रम से कार्य कर रहे हैं उसके लिये वे वास्तव में प्रशंसा के पात्र हैं।

[illegible] बाजार,

हीरालाल जैन "कौशल"
(साहित्यरत्न, शास्त्री, न्यायतीर्थ)

अपनी बात

इस साहित्य के प्रकाशनमें श्री परमपूज्य आचार्य देशभूषण जी, श्री क्षुल्लक सुमतसागर जी, श्रीमती क्षुल्लिका राजमती जी तथा श्री लक्ष्मीचन्द जी वर्णी का सदा आशीर्वाद रहा है।

प्रकाशनके लिये विषय के चुनाव आदि में श्रीमान पं० हीरालाल जी "कौशल" का सत्परामर्श सदा प्राप्त होता रहता है। इस पुस्तक के लिये आपने 'दो शब्द' भी लिखने की कृपा की है।

श्री भाई करमचन्द जी तो मेरे सहयोगी हैं ही, साथ ही श्री डाक्टर फूलचन्दजी, श्री एन० आर० शाह, श्री फूलचन्दजी टिम्बर मर्चेण्ट, श्री महावीरप्रसादजी बी० एस० सी० तथा श्री सेतीलाल जी एम० ए० ईसरी आदि भी सदा सहयोग देते रहते हैं।

ला० आदीश्वरप्रसादजी, लक्ष्मीचन्दजी व अचलकुमारजी ने अपने पूज्य पिता श्री स्वर्गीय ला० भगतरामजी खजांची (सोनीपत निवासी) की स्मृति में इस उपयोगी प्रकाशन की ५०० प्रतियां वितरण के लिये ली हैं। श्री 'भगत' जी शास्त्रज्ञ विद्वान थे और उनकी यह स्मृति उनके अनुरूप ही है।

श्री ला० छुन्नामलजी (श्री जयपालचन्दजी जिनेन्द्रप्रसाद जी) जैन इस प्रकार के कार्यों में सदा अपने धन का सदुपयोग करते रहते हैं। आपने भी इसकी १०० प्रतियां पुस्तकालयों व संस्थाओं को भिजवाई हैं। इन सभी सज्जनों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

विनीत—प्रकाशक

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

श्री करमचन्द जी जैन,
मैसर्स महावीर प्रसाद एण्ड संस,
चावड़ी बाजार, देहली।

डा० फूलचन्द जी जैन,
पहाड़ीधीरज, देहली।

श्री मुसद्दीलाल फूलचन्दजी जैन,
टिम्बर मर्चेन्ट,
सदर बाजार, देहली।

मैनेजर—
दि० जैन पुस्तकालय, सूरत

श्री मंगलसैन जी विशारद,
श्री दि० वीर जैन पुस्तकालय
श्री महावीर जी (राजस्थ[illegible]

सेठी बन्धु, श्री वीर पुस्त[illegible]
श्री महावीरजी (राज[illegible]

आद्य कथन

विश्व शान्ति के लिये जैनधर्म ने जिस तरह सर्वांगीण 'अहिंसा सिद्धान्त' और सर्वांगीण विचार विमर्ष एवं तत्वनिर्णय के लिये जिस तरह 'स्याद्वाद' सिद्धान्त प्रदान किया है, इसी प्रकार उसने आत्मा के उत्थान पतन के आधार भूत 'कर्म सिद्धान्त' को भी संसार के सामने अच्छे स्पष्टीकरण के साथ रक्खा है। संसारी प्राणियों की 'भाग्य रेखा' यानी 'सौभाग्य दुर्भाग्य' क्या चीज हैं, इसका स्पष्ट विवेचन जैनदर्शन ने ही किया है।

जब इतर भारतीय तथा अभारतीय दर्शन—

"कर्म-गति टारे नाहिं टरे।

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥

होता है वही, जो मंजूरे-खुदा होता है।

सारा संसार ईश्वर के संकेत पर चल रहा है, उसकी मर्जी के बिना पेड़ का पत्ता तक नहीं हिलता।"

इत्यादि रूप से कहकर मनुष्य को हतोत्साह करते है, निष्क्रिय बनाने की चेष्टा करते हैं तथा ईश्वर का स्थायी दास बनाने का प्रयत्न करते हैं और आत्मा की अकर्मण्यता की घोषणा करते है, तब जैनधर्म ईश्वर की सत्ता मानते हुए भी, उसके महत्व एवं शुद्ध स्वरूप को आदर्श बतलाकर वैसा बनने के लिये संसारी जनता को प्रेरणा करता है। तथा स्पष्ट कहता है कि 'जीव कर्म की खेती [illegible] करता है, स्वयं उसके कटक एवं मधुर फल खाकर अपनी

करनी का फल उठाता है, यदि वह समझ से काम ले तो उस कर्म-जाल को विध्वस्त करके अपनी अविनाशिनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अजर अमर परमेश्वर बन सकता है।'

इस पुस्तक में जीव की उसी 'कर्म रेखा' का संक्षेप से सरल विवेचन किया गया है। इस विषय पर मैंने 'सत्यार्थदर्पण' में लिखा है तथा अमरोहा और मुलतान से प्रकाशित 'जैन कर्म-सिद्धान्त' नामक ट्रैक्टों में भी विभिन्न रूप से लिखा है। एक महानुभाव ने मुलतान से प्रकाशित उस ट्रैक्ट के ३५ पृष्ठ ज्यों के त्यों अपनी एक पुस्तक में रख लिये हैं।

जनोपयोगी, सरल मौलिक साहित्य-प्रकाशन-प्रेमी श्री बाबू 'श्रीकृष्ण जी जैन' ने उस कर्म सिद्धान्त विषय को जरा और खुलासा करके नवीन ढंग से लिखने का अनुरोध किया, तदनुसार यह पुस्तक मौलिक रूप से लिखी गई है, आशा है इससे जनता को कुछ लाभ होगा।

प्रिय पाठक! संभावित त्रुटियों की सूचना देने की कृपा करें। जिससे उन्हें द्वितीय संस्करण में सुधार दिया जावे।

भाद्रपद सुदी २
सोमवार
वीर सं० २४८४
१५-९-५८

अजितकुमार शास्त्री
सम्पादक जैन गजट
अभय प्रेस, ४१७२ अहाता केदारा,
पहाड़ी धीरज, दिल्ली।

परिचय

संसार मे जीवों की विचित्रता सब किसी को दिखाई दे रही है। कोई मनुष्य योनि में है, कोई पशु योनि में है, कोई कीड़े मकोड़े के शरीर मे है। कोई रोगी है, कोई निरोगी, कोई निर्बल है, कोई बलवान, कोई धनिक है, कोई निर्धन, कोई सुखी है कोई दुखी। एक 'माता के पेट से पैदा हुए दो" भाइयों में ही एक जन्म-भर सुखी जीवन विताता है जब कि दूसरा भाई दर दर की ठोकरे खाता फिरता है, कोई अपने उद्योग में बिना अधिक महनत के सफल हो जाता है कोई रात दिन घ र परिश्रम करने पर भी असफल (नाकामयाब) रहता है। इत्यादि।

'ऐसी विचित्रताऐं संसारी जीवों में परस्पर क्यों पाई जाती है' इस बात को जानने की उत्सुकता प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य के हृदय में उठा करती है। परन्तु उसकी जिज्ञासा (जानने की ख्वाहिश) अधूरी रह जाती है। बहुत से मत तो इस विचित्रता की जिम्मेदारी ईश्वर पर डाल कर सन्तोष कर लेते है। उनका कहना है कि—

'ईश्वर की लीला अपरम्पार है, उसकी मर्जी के विना पत्ता भी नहीं हिलता, सब कुछ वही बनाता बिगाड़ता है।

होता है वही, जो मंजूरे खुदा होता है।
अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम॥
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥ इत्यादि

किन्तु निरंजन निर्विकार ईश्वर ऐसी सुख दुख मयि लीला क्यों रता है? सबको सुखी ही क्यों नहीं बनाता? आदि प्रश्न ज सामने आते हैं. तब उन्हें चुप हो जाना पड़ता है।

कोई दर्शन कहते हैं कि—'यह सब कर्म (भाग्य-किस्मत) की लीला है। जो जैसा करता है वैसा भोगता है।

करम-गति टारे नाहिं टरे। इत्यादि।

परन्तु वे यह बात स्पष्ट नहीं बतला पाते कि 'कर्म क्या चीज है, वह जीव को संसार चक्र में कैसे डाले हुए है ?'

जैन धर्म ऊपर लिखी सब बातों का बहुत खुलासा उत्तर देता है। उसके समाधान से न तो ईश्वर पर कोई दोष आरोपित होता है और न कर्म-बन्धन, कर्मफल मिलने, कर्मबन्धन छूटने संसार भ्रमण, संसार भ्रमण से छूटने आदि के विषय में कोई शका हृदय में रह जाती है।

कर्म सिद्धांत का यह विषय कषाय पाहुड़, जयधवला, महाधवला, गोम्मटसार; कर्मकाण्ड आदि अनेक महान् ग्रन्थों मे बड़े भारी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। परन्तु साधारण जनता उन कठिन ग्रन्थों का स्वाध्याय नहीं कर सकती। इसलिये इस विषय को सक्षेप से सरल शब्दों में रखने की बड़ी आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को श्रीमान् पं. अजितकुमार जी शास्त्री, सम्पादक जैन गजट, ने इस पुस्तक द्वारा पूर्ण करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। पाठक महानुभाव इस पुस्तक से बहुत कुछ लाभ उठावेंगे, ऐसी आशा है। मैं शास्त्री जी को उन के परिश्रम के लिये धन्यवाद देता हूँ।

पुस्तक का प्रकाशन समाज-सेवा के भाव से हुआ है, इसमें कोई व्यापारिक लाभ की दृष्टि नहीं रक्खी गई, अतः प्रत्येक समाजहितैषी उत्साही सज्जन का कर्त्तव्य है कि लागत मूल्य वाली इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार करने का प्रयत्न करे। जिससे इस का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो तथा अन्य किसी उपयोगी मौलिक पुस्तक का प्रकाशन किया जा सके।

निवेदक—श्रीकृष्ण

विषय-सूची

सफलता का रहस्य

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थं न क्लीवा न च मानिनः ।
न लोकरवाद्भीता न शश्वत्प्रतीक्षिणः ॥

यानी—आलसी, नपुंसक (नामर्द), अभिमानी, जनता की नुक्ताचीनी से डरने वाले और सदा काललब्धि या भाग्य की प्रतीक्षा करने वाले व्यक्ति कभी सफलता नहीं पाते ।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः,
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्रदोषः ॥

यानी—सफलता रूपी लक्ष्मी उद्योगी वीर पुरुष को ही प्राप्त होती है । 'भाग्य से सब कुछ मिलता है' ऐसा कायर पुरुष कहा करते हैं । इसलिये भाग्य भरोसे न रहकर अपनी शक्ति अनुसार पुरुषार्थ (उद्यम) करते रहो । यदि प्रयत्न करने पर भी कदाचित् तुम्हें सफलता न मिले तो इसमें तुम्हारा क्या दोष है ?

उद्योगेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

यानी—कार्यों की सिद्धि उद्योग करने से होती है, केवल सोचने विचारने से कोई काम नहीं बनता । वनराज—सिंह यदि भूखा सोता रहे, अपनी भूख मिटाने के लिये भाग दौड़ का कुछ उद्यम न करे, अपने भाग्य-भरोसे पड़ा रहे, तो उसकी भूख मिटाने के लिये हिरण उसके मुख में स्वयं नहीं आ घुसेंगे ।

नमः सिद्धेभ्यः

विधि का विधान

यानी

भाग्य-रेखा

मनुष्य को अभिमान है कि वह प्रकृति (जड़ पदार्थों) पर शासन करता है, अपने बुद्धि बल से वह उसे पालतू कुत्ते की तरह अनेक तरह के नाच नचाता है। वायुयान बनाकर आकाश में पक्षियों से भी बढ़कर यथेष्ट विहार करता है, समुद्र के ऊपर और भीतर अनेक तरह के जलयानों (पनडुब्बी आदि जहाजों) द्वारा बेखटके घूमता है, पृथ्वी का गर्भ चीर कर उसके छिपे हुए बहुमूल्य पदार्थों को बाहर निकाल कर उनका मनमाना उपभोग करता है। परमाणु भी उसकी पकड़ से बाहर नहीं। अग्नि, वायु, जल आदि प्रकृति-जन्य पदार्थों की लीला को अनेक रूप में कर डालता है। मनुष्य को गर्व है कि उसने अनेक प्रकार के यन्त्र (मशीनें) बनाकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, शब्द आदि को अपना दास बना लिया है। वह स्वयं किसी अन्य के बनाये हुए विधान (कानून) मे नहीं चलता, अपितु बनाये हुए ... में जगत (जड़ पदार्थों) को चलाता है।

अभिमानी मानव प्राणी गर्व के नशे मे चूर होकर अपनी वास्तविक (असली) स्थिति (हालत) को भूल जाता है। उसे स्वप्न मे भी विचार नहीं आता कि उसको भी प्रकृति के विधान के अनुसार चलना पड़ता है, उसके ऊपर भी अचेतन प्रकृति का शासन चलता है। वह स्वतन्त्र नहीं है, जगत के विशाल बन्दीगृह (जेल) मे अपने शरीर की कोठरी मे बन्दी बना हुआ (कैद) है, कर्म जेलर के हन्टरो की मार उसे क्षण भर भी सुख शान्ति की नींद नहीं लेने देती।

गर्वीले चेतन प्राणी पर शासन करने वाला विधि (कर्म) का विधान क्या है? इस विधान को किसने कब और क्यों बनाया और इस विधान को तोड़कर क्या संसारी जीव कभी स्वतन्त्र भी हो सकता है? इत्यादि उत्सुकतामय तथा जिज्ञासा-पूर्ण प्रश्नो पर आइये, आज कुछ विचार करें, जिसमे हमें सुख शान्ति का मार्ग दिखलाई पड़ सके।

यह जगत्

जिस तरह अनन्त जल-बिन्दुओ (पानी की बूंदो) के विशाल समूह का नाम समुद्र है, उसी तरह अनन्त चर, अचर, जड़, चेतन, मूर्तिक अमूर्तिक पदार्थों के समुदाय का नाम 'जगत' है। यह जगत सदा से चला आ रहा है और सदा चला जायगा, न तो कभी यह उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट होगा, यह अनादि एवं अनिधन (प्रारम्भ और अन्त से शून्य) है। विभिन्न निमित्त उपादान कारणो के अनुसार जगत के पदार्थों मे प्रति-समय कुछ न कुछ थोड़ा बहुत दृश्य तथा अदृश्य (दीखने, न दीखने

परिवर्तन (हेर फेर) तो होता ही रहता है। अग्निकाण्ड, जलकांड बाढ़ आदि), वायुकांड (आंधी आदि), उल्कापात (बिजली गिरना), भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतों का विस्फोट आदि महान कारणों से बड़े बड़े परिवर्तन हो जाते हैं, जल में थल और थल में जल हो जाता है, बड़े बड़े नगर विध्वस्त हो जाते हैं, पृथ्वी समुद्र में समा जाती है और समुद्र में पृथ्वी निकल आती है जिससे द्वीप (टापू) बन जाते हैं। छोटे मोटे परिवर्तन तो सदा सर्वत्र (सब जगह) होते ही रहते हैं। किन्तु समूचा नाश (सारे जगत की प्रलय) न कभी हो सकता है, न कभी हुआ और न कभी होगा।

पदार्थ विज्ञान (साइन्स) का निश्चित, अटल सिद्धान्त है कि न तो कभी कोई (सर्वथा) नया पदार्थ उत्पन्न होता है और न कभी कोई पदार्थ सर्वथा नष्ट होता है, अन्तरङ्ग बहिरङ्ग, निमित्त उपादान कारणों के अनुसार उनकी दशाओं में परिवर्तन होता रहता है। इसी कारण ऐसा न कभी हुआ और न होगा कि पृथ्वी-जल, अग्नि, वायु, आकाश, जीव सर्वथा नष्ट हो जावे और कभी बिना उपादान कारणों के नये उत्पन्न हो जावें। सारांश यह है कि जगत में सभी पदार्थ सदा से विद्यमान हैं और अनन्तकाल तक वे सभी रहे आवेंगे।

जगत अनादि क्यों है ?

जिस प्रकार आम के बीज (गुठली) में आम के पेड़ का [illegible]ार विद्यमान है, इसी कारण जब आम की गुठली को बोया [illegible]है तो उससे आम के वृक्ष का ही अंकुर उत्पन्न होता है, अन्य [illegible]का अंकुर आम की गुठली से नहीं उगता। उसी प्रकार

मनुष्य के वीर्य में मानव-शरीर का आकार विद्यमान है। इसी कारण स्त्री के रज के साथ सम्मिश्रण होकर उस वीर्य से मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति होती है। मनुष्य के वीर्य से न तो अन्य किसी जन्तु का शरीर उत्पन्न हो सकता है और न किसी अन्य जीव के वीय में यह शक्ति है कि वह मनुष्य का शरीर उत्पन्न कर सके।

जिस तरह इस युग में मनुष्य की उत्पत्ति के लिये पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज का सम्मिश्रण (मिलना) आवश्यक है, इसी प्रकार अनन्त भूतकाल मे भी मनुष्य की उत्पत्ति अपने माता के रज वीर्य से होती रही है और अनन्त भविष्य काल में भी इसी प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति होती रहेगी। विना माता पिता के मनुष्य न कभी उत्पन्न हुआ, न होता है और न कभी होगा।

इस अटल प्राकृतिक नियम के अनुसार इस समय जो मनुष्य जगत् में दिखाई दे रहे हैं, उनके माता पिताओं की परम्परा अनादि (जिसका प्रारम्भकाल कोई नहीं) काल से सिद्ध होती है। क्योंकि जब भी उनकी उत्पत्ति का प्रारम्भ काल माना जावेगा तभी यह प्रश्न उपस्थित होगा कि 'प्रारम्भ का आदि (पहला) मनुष्य व स्त्री किस तरह उत्पन्न हुए ?'

प्रश्न का उत्तर यही मिलेगा कि वे स्त्री पुरुष भी अपने माता पिता से ही उत्पन्न हुए थे। इसके सिवाय अन्य कोई उत्तर हो ही नहीं सकता। उस दशा में मनुष्य का आरम्भकाल कोई भी निश्चित नहीं किया जा सकता।

विना माता पिता के मनुष्य की उत्पत्ति मानना निराधार सर्वथा असत्य है।

मनुष्य के समान ही गाय, घोड़ा, हाथी, सिंह, बन्दर आदि गर्भज पशु भी अपनी अपनी जाति के नर नारी (मादा) के वीर्य तथा रज के मिलने से ही उत्पन्न होते है, अतः आज जितने भी गर्भज पशु दिखाई दे रहे हैं वे सभी अपने अपने पूर्वज नर मादा रूप माता पिता की परम्परा से अनादि काल से ही सिद्ध होते हैं।

गर्भज पशुओ के समान ही अण्डे से उत्पन्न होने वाले सर्प, कबूतर, तोता, चिड़िया, मुर्गी आदि पक्षी भी अपनी अपनी जाति के नर मादा के संयोग से उत्पन्न हुए अण्डे से उत्पन्न होते हैं। उनकी पूर्वज नर मादा परम्परा भी अनादि काल की सिद्ध होती है। कोई भी नहीं कह सकता कि पहले कबूतरी थी या उसका अंडा था। क्योंकि पहले पहल कबूतरी को माना जावे तो प्रश्न होगा कि बिना अण्डा के वह उत्पन्न कैसे हुई ? यदि पहले अंडा माना जावे तो प्रश्न होगा कि वह बिना कबूतरी के आया कहाँ से ? उत्तर यही मिलेगा कि अण्डा कबूतरी से हुआ और कबूतरी अपनी पूर्वजा कबूतरी से उत्पन्न हुई। इस तरह अण्डज जीवों की पूर्व-परम्परा भी किसी नियत (खास) समय से नहीं मानी जा सकती। अनादि काल से ही माननी पड़ती है।

अब वृक्षों पर विचार कीजिये, गेहूँ, चना, आम, जामुन, अनार आदि के वृक्ष अपने अपने बीज से उत्पन्न होते हैं और उनके बीज अपनी जाति के वृक्षों से उत्पन्न होते हैं। इसके सिवाय उनकी उत्पत्ति का अन्य कोई विधि विधान नहीं है।

नुसार बीजो से उत्पन्न होने वाले जितने प्रकार के भी पेड़ दिखाई दे रहे हैं, वे अपने पर्वज बीज वृक्ष-परम्परा से

अनादि काल के सिद्ध होते हैं। क्योंकि विना बीज के आम आदि वृक्ष उत्पन्न नहीं होते और विना आम आदि वृक्षों के उनके बीज नहीं होते। कोई नहीं बतला सकता कि पहले आम की गुठली थी या पहले आम का पेड़ था।

इस तरह मनुष्य, गर्भज पशु, अण्डज पक्षी सर्प आदि, बीजो से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ (पेड़, पौधे, बेल आदि) अनादि काल की सिद्ध होती हैं।

जीवन के उपयोगी पदार्थ

मनुष्य तथा पशु पक्षियों को जीवित रहने के लिये ६ पदार्थों की नितान्त आवश्यकता है—१. रहने का स्थान, २ वायु, ३. जल ४ भोजन, ५. गर्मी, ६. प्रकाश।

रहने के लिये मुख्य रूप से पृथ्वी आवश्यक है, पृथ्वी के बिना मनुष्य, पशु (थलचर जीव) रह नहीं सकते। पृथ्वी के बिना वनस्पतियां नहीं उग सकतीं और नहीं पृथ्वी के बिना जल कहीं पर निराधार ठहर सकता है। जो पक्षी पेड़ों पर रहते हैं उनके लिये भी पृथ्वी की आवश्यकता है क्योंकि पृथ्वी के बिना पेड़ कहां पर उत्पन्न हों। इस तरह समस्त थलचर, जलचर नभचर प्राणियों के रहने के लिये पृथ्वी की आवश्यकता है।

श्वास लेने के लिये वायु की आवश्यकता है। वायु न तो सभी मनुष्य पशु पक्षी एक दिन भी जीवित नहीं रह स[illegible] दम घुट जाने से उनकी तुरन्त मृत्यु हो जावे। अत जीवों के लिये वायु भी अत्यन्त आवश्यक है।

शरीर में रक्त आदि धातु उपधातु बनने मे जल का बहुत भारी भाग है। ज्यों ही शरीर के भीतर जल की कमी होती है कि प्यास लगने लगती है। जल से ही प्यास शांत होती है। यदि जल पीने के लिये न मिले तो जीवन अधिक समय तक नहीं टिक सकता। अतः जल भी जीवों के लिये परम आवश्यक है।

शरीर का पोषण भोजन के द्वारा होता है क्योंकि भोजन से ही शरीर के लिये रस रक्त मांस चर्बी आदि धातुएँ तैयार होती है। भूख को भोजन द्वारा ही शान्त किया जाता है। अतः भोजन करना प्रत्येक प्राणी के लिये अनिवार्य है।

यथायोग्य गर्मी भी शरीर को मिलनी चाहिये, शरीर के भीतर गर्मी रहती है जिससे कि शरीर में रक्त संचार होता रहता है उस शरीर की गर्मी के लिये बाहर की गर्मी अपेक्षित है। यदि सूर्य तथा अग्नि से गर्मी प्राप्त न हो तो समस्त गर्भज, अण्डज, सम्मूर्छन (उद्‌भिज) जीव तथा वनस्पतियां ठिठुर कर मर जावे। अतः यथोचित गर्मी भी प्रत्येक जीव को अवश्य मिलनी चाहिये।

प्रकाश के बिना व्यावहारिक कार्य नहीं हो सकते। संसार के प्रायः समस्त कार्यों के लिये जीवों को प्रकाश की आवश्यकता होती है। उल्लू, चमगादर आदि रात्रिचर जीवो को भी यद्यपि सूर्य का प्रकाश आवश्यक नहीं क्योकि उस प्रकाश मे उनके नेत्र चकाचौंध से काम नहीं कर पाते किन्तु रात के समय का भी धुंधला प्रकाश तो उन्हें भी आवश्यक है। इसके सिवाय प्रकारान्तर से भी जीवों के लिये प्रकाश की आवश्यकता है।

सारांश यह है कि जीवों का जीवन पृथ्वी, जल, वायु,

अनादि काल के सिद्ध होते हैं। क्योंकि बिना बीज के आम आदि वृक्ष उत्पन्न नहीं होते और बिना आम आदि वृक्षों के उनके बीज नहीं होते। कोई नहीं बतला सकता कि पहले आम की गुठली थी या पहले आम का पेड़ था।

इस तरह मनुष्य, गर्भज पशु, अण्डज पक्षी सर्प आदि, बीजों से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ (पेड़, पौधे, बेल आदि) अनादि काल की सिद्ध होती हैं।

जीवन के उपयोगी पदार्थ

मनुष्य तथा पशु पक्षियों को जीवित रहने के लिये ६ पदार्थों की नितान्त आवश्यकता है—१. रहने का स्थान, २ वायु, ३. जल, ४ भोजन, ५. गर्मी, ६. प्रकाश।

रहने के लिये मुख्य रूप से पृथ्वी आवश्यक है, पृथ्वी के बिना मनुष्य, पशु (थलचर जीव) रह नहीं सकते। पृथ्वी के बिना वनस्पतियां नहीं उग सकतीं और नहीं पृथ्वी के बिना जल कहीं पर निराधार ठहर सकता है। जो पक्षी पेड़ों पर रहते हैं उनके लिये भी पृथ्वी की आवश्यकता है क्योंकि पृथ्वी के बिना पेड़ कहां पर उत्पन्न हों। इस तरह समस्त थलचर, जलचर, नभचर प्राणियों के रहने के लिये पृथ्वी की आवश्यकता है।

श्वास लेने के लिये वायु की आवश्यकता है। वायु न हो तो सभी मनुष्य पशु पक्षी एक दिन भी जीवित नहीं रह स[illegible] दम घुट जाने से उनकी तुरन्त मृत्यु हो जावे। अतः [illegible] जीवों के लिये वायु भी अत्यन्त आवश्यक है।

शरीर में रक्त आदि धातु उपधातु बनने मे जल का बहुत भारी भाग है। ज्यों ही शरीर के भीतर जल की कमी होती है कि प्यास लगने लगती है। जल से ही प्यास शांत होती है। यदि जल पीने के लिये न मिले तो जीवन अधिक समय तक नहीं टिक सकता। अतः जल भी जीवो के लिये परम आवश्यक है।

शरीर का पोषण भोजन के द्वारा होता है क्योंकि भोजन से ही शरीर के लिये रस रक्त मांस चर्बी आदि धातुएँ तैयार होती है। भूख को भोजन द्वारा ही शान्त किया जाता है। अतः भोजन करना प्रत्येक प्राणी के लिये अनिवार्य है।

यथायोग्य गर्मी भी शरीर को मिलनी चाहिये, शरीर के भीतर गर्मी रहती है जिससे कि शरीर मे रक्त संचार होता रहता है उस शरीर की गर्मी के लिये बाहर की गर्मी अपेक्षित है। यदि सूर्य तथा अग्नि से गर्मी प्राप्त न हो तो समस्त गर्भज, अण्डज, सम्मूर्छन (उद्भिज) जीव तथा वनस्पतियां ठिठुर कर मर जावें। अतः यथोचित गर्मी भी प्रत्येक जीव को अवश्य मिलनी चाहिये।

प्रकाश के बिना व्यावहारिक कार्य नहीं हो सकते। संसार के प्रायः समस्त कार्यों के लिये जीवो को प्रकाश की आवश्यकता होती है। उल्लू, चमगादड़ आदि रात्रिचर जीवो को भी यद्यपि सूर्य का प्रकाश आवश्यक नहीं क्योंकि उस प्रकाश मे उनके नेत्र चकाचौंध से काम नहीं कर पाते किन्तु रात के समय का भी धुंधला प्रकाश तो उन्हें भी आवश्यक है। इसके सिवाय प्रकारान्तर से भी जीवों के लिये प्रकाश की आवश्यकता है।

सारांश यह है कि जीवों का जीवन पृथ्वी, जल, वायु,

अग्नि, सूर्य पर निर्भर है, यदि ये पदार्थ न हों तो कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता।

अतः जब से यानी-अनादि काल से पहले कहे अनुसार जब गर्भज, अण्डज जीव—मनुष्य, पशु पक्षी आदि तथा बीजों से उत्पन्न होने वाले—वृक्ष इस जगत में चले आ रहे हैं, तो इस बात को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उन अनादिकालीन जीवों के लिये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य भी अनादि काल से इस जगत में विद्यमान (मौजूद) रहे हैं। क्योंकि यदि ये पांच पदार्थ न होते तो कोई भी प्राणी अपने अपने समय में जीवित न रहता।

आकाश तो सदा से है ही, उसके बनने बिगड़ने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

इस तरह जिन पदार्थों के संयोग से इस जगत का ढांचा बना है वे सभी पदार्थ—पृथ्वी (जमीन पर्वत आदि) जल (नदी, समुद्र, झील आदि) अग्नि, वायु, सूर्य, आकाश, तथा सभी जीव जन्तु किसी विशेष या नियत समय में उत्पन्न नहीं हुए अपितु अनादि काल से उनका अस्तित्व रहा आया है।

जगत में परिवर्तन

सूर्य की गर्मी से नदी, समुद्र आदि जलाशयों का पानी भाप बन कर आकाश में उड़ जाता है, वहां अपने आप बादल बनते रहते हैं। उन बादलों को जब वर्षाती हवाएं (मानसून) मिलती हैं तब वे ही बादल पानी के रूप में बरसने लगते हैं,

ठण्डे स्थानों पर वे ही बादल बर्फ के रूप मे गिरा करते हैं। वही बर्फ अधिक ऊँचे पर्वतों (जमीन पर तथा समुद्र नदियों के पानी के ऊपर भी) पर जम जाती है। उस जमी हुई बर्फ को जब सूर्य की गर्मी मिलती है तब वह पिघल कर पानी के रूप में बहा करती है। बड़ी बड़ी नदियां उसी बर्फ के पानी से गर्मी के दिनों मे भी बहती रहती हैं।

बादलों को जब जहां पर जैसा संयोग मिलता है तब वहां पर वे उस तरह बरस जाते हैं। इसी का परिणाम यह होता है कि कहीं पर तो बहुत भारी जलवर्षा हो जाती है जिससे बड़ी बड़ी बाढ़े आ जाती हैं। कहीं पर पानी बहुत थोड़ा बरसता है और कभी कहीं पर बिलकुल नहीं बरसता।

इस अव्यवस्था के कारण कहीं पर अन्न की बहुत भारी पैदा-वार होती है, कहीं कम होती है, कहीं पर बिलकुल नहीं होती।

ऐसी ही बात पृथ्वी के भीतर होती रहती है। पृथ्वी में कहीं लोहा, सोना, चांदी, तांबा आदि धातुएं स्वयं बन रही हैं, कहीं पर कोयला बन जाता है, कहीं पर गैस, तेल आदि बना करता है। उस गैस का दबाव बढ़ जाता है। तब वह पृथ्वी का पेट चीर कर बाहर निकलती है जिससे बड़े-बड़े भूकम्प हो जाते हैं। जिससे कहीं नगर नष्ट हो जाते हैं, कहीं जमीन जलाशय बन जाती है और कहीं समुद्र आदि जलाशय पृथ्वी टापू आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं।

इस तरह जगत् में अनेक तरह के परिवर्तन स्वयं होते रहते

नर मादा और विना जीव के मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि ब्रह्म ने कैसे बना दिये ?

विना परमाणुओं के पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भौतिक पदार्थ नहीं बनते हैं। तब ब्रह्म ने विना परमाणुओं के पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, वायु आदि का निर्माण किस तरह कर डाला ?

पौराणिक, वैशेषिक आदि की मान्यता भी यथार्थ नहीं, क्योंकि—

पहले यदि कुछ नहीं था, तो फिर विभिन्न उपादान कारणों से उत्पन्न होने वाले ये असंख्य प्रकार के जड़ चेतन पदार्थ विना अपने अपने उपादान कारणों के कहाँ से आ गये ? विना परमाणुओं के पृथ्वी जल आदि भौतिक पदार्थ कैसे बन गये ? विना नर मादा के रज वीर्य के गर्भज जीव कैसे उत्पन्न हो गये और विना बीजो के वृक्ष कैसे उग गये ?

ईश्वर जब जगत की व्यवस्था करता है तब कहीं पर अति-वृष्टि, कहीं पर सूखा, कहीं पर भूचाल आदि अव्यवस्थित काम क्यों होते हैं ?

ईश्वर ने सभी जीव सुखी, गुणी, विद्वान क्यों नहीं बनाये, दुखी दुराचारी मूर्ख भी क्यों बना दिये ?

जब उसकी इच्छा के विना पत्ता भी नहीं हिलता तब जगत में दुराचार, अत्याचार, निर्दय हिंसा आदि पापकार्य क्या उसीकी मर्जी से हो रहे हैं ? यदि नहीं तो वह ऐसे कुकृत्य क्यों होने देता है ?

ईश्वर जब जगत को बनाता है तब वह उसका प्रलय (सर्व-नाश) भी क्यों कर डालता है ?

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने जैसे वेद-मन्त्रों से हिंसा-विधान दूर करने के लिये उनके अर्थ प्राचीन भावों के प्रतिकूल लिखते हुए नवीन रूप दिया है, इसी प्रकार उन्होंने ईश्वर द्वारा जगत-निर्माण के विषय में भी कुछ नई कल्पनाएं की हैं। किन्तु उसमें सफल नहीं हो सके। उन्होंने लिखा है कि—

ईश्वर ने सबसे पहले तिब्बत पर बहुत से युवा पुरुष स्त्री अमैथुनी सृष्टि (बिना रज वीर्य के, बिना गर्भाधान के, बिना माता पिता के) से उत्पन्न किये। उनकी यह कल्पना अस्वाभाविक एवं निराधार है। क्योंकि—

मनुष्य गर्भज प्राणी है उसका शरीर बिना रज वीर्य के बन नहीं सकता। सृष्टि की आदि में जब आपके मतानुसार एक भी स्त्री पुरुष नहीं था तब बिना रज वीर्य के मिश्रण रूप गर्भाधान द्वारा स्त्री पुरुषों की उत्पत्ति होना असम्भव है। रज वीर्य मानवीय शरीर का उपादान कारण है, स्त्री पुरुष का संयोग उसका निमित्त कारण है। उन निमित्त और उपादान कारणों के अभाव में मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति रूप कार्य कैसे हो गया ? रज, वीर्य क्रमशः स्त्री और पुरुष के शरीर में शारीरिक रसायन प्रक्रिया से तैयार होते हैं। वीर्य जब तक स्त्री के गर्भाशय में पहुँच कर रज के साथ न मिले तब तक मानवीय शरीर का निर्माण होना असम्भव है। अतः अमैथुनी सृष्टि निराधार कोरी कल्पना है।

ईश्वरीय कल्पना

अनेक दर्शनकारों तथा मत-प्रवर्तकों ने जगत के निर्माण के विषय में विभिन्न प्रकार की कल्पनाएं की है उनमें से वेदान्ती ऐसा मानते है कि :—

पहले कुछ भी नहीं था, केवल एक ब्रह्म था, उसकी इच्छा हुई कि मैं एक हूं, अनेक बन जाऊं (एकोऽहं बहुः स्याम्)। ऐसी इच्छा करते ही वह ब्रह्म ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, नदी, तथा जलचर, थलचर, नभचर आदि अनंतों जीव रूप हो गया। समस्त जड़ चेतन पदार्थ ब्रह्म के ही अंश है। जब ब्रह्म चाहता है, इस जगत का अस्तित्व मिट जाता है और समस्त चर-अचर, जड़ चेतन पदार्थ ब्रह्म रूप हो जाते हैं।

जगत के विषय मे वैशेषिक, पौराणिक, ईसाई, मुसलमान आदि मतो की मान्यता लगभग मिलती जुलती ऐसी है कि—

पहले कुछ नहीं था, केवल एक ईश्वर था, उसने ही अपनी इच्छा से इस विशाल जगत को बना दिया, अनन्त जीव भी उसने बिना माता पिता के उत्पन्न कर डाले। वही ईश्वर सारे संसार की व्यवस्था करता है, और वही किसी दिन सारे जगत की प्रलय भी कर डालता है।

आर्यसमाज आदि कुछ मतों की इस विषय मे यह मान्यता है कि :—

ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों चीजें अनादि है, किन्तु पहले प्रकृति परमाणु रूप मे थी और सब जीव स्थूल श[illegible]

बिना थे। ईश्वर ने परमाणुओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु बनादिये और समस्त जीवों को बिना माता पिता या नर मादा के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीर में बना दिया। वह ईश्वर समस्त जगत् की व्यवस्था करता है। उसकी इच्छा के बिना पेड़ का पत्ता भी नहीं हिलता। ईश्वर ही एक दिन समस्त जगत् की प्रलय करके परमाणु रूप देता है। सृष्टि और प्रलय अनन्तों बार हो चुकी है और भविष्य मे भी क्रमशः ऐसे ही होता रहेगा।

निष्पक्ष विचार करने पर ये तीनो प्रकार की मान्यताएं सत्य प्रमाणित नहीं होतीं। विचार कीजिये कि—

यदि पहले ब्रह्म ही था तो ऐसी क्या आपत्ति आई कि उस पूर्ण कृतकृत्य, निरंजन, निर्विकार ब्रह्म को बहुत रूप बनने की इच्छा हुई। इच्छा तो अपूर्ण, विकारी व्यक्ति में हुआ करती है ?

जगत मे लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि पदार्थ ज्ञान, चैतन्य शून्य जड़ देखे जाते हैं। ब्रह्म जब ज्ञानमय चेतन है तो वह जड़ पदार्थों का रूप कैसे हो सकता है ?

जब प्रत्येक जीव भिन्न भिन्न अवस्था मे दिखाई देता है, कोई मूर्ख है, कोई विद्वान, कोई सदाचारी है कोई दुराचारी, कोई सुखी है कोई दुखी, कोई बलवान है कोई निर्बल। तब सभी जीव ब्रह्म के अंश कैसे हो सकते है ? ब्रह्म के समस्त अंश एक समान होने चाहिये ?

बिना माता पिता के स्त्री पुरुष, बिना नर मादा के पशु पक्षी बिना बीज के वृक्ष उत्पन्न नहीं होते तब बिना माता पिता,

नर मादा और विना जीव के मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि ब्रह्म ने कैसे बना दिये ?

विना परमाणुओं के पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भौतिक पदार्थ नहीं बनते हैं। तब ब्रह्म ने बिना परमाणुओं के पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, वायु आदि का निर्माण किस तरह कर डाला ?

पौराणिक, वैशेषिक आदि की मान्यता भी यथार्थ नहीं, क्योंकि—

पहले यदि कुछ नहीं था, तो फिर विभिन्न उपादान कारणों से उत्पन्न होने वाले ये असंख्य प्रकार के जड़ चेतन पदार्थ बिना अपने अपने उपादान कारणों के कहाँ से आ गये ? बिना परमाणुओं के पृथ्वी जल आदि भौतिक पदार्थ कैसे बन गये ? बिना नर मादा के रज वीर्य के गर्भज जीव कैसे उत्पन्न हो गये और बिना बीजों के वृक्ष कैसे उग गये ?

ईश्वर जब जगत की व्यवस्था करता है तब कहीं पर अति-वृष्टि, कहीं पर सूखा, कहीं पर भूचाल आदि अव्यवस्थित काम क्यों होते हैं ?

ईश्वर ने सभी जीव सुखी, गुणी, विद्वान क्यों नहीं बनाये, दुखी दुराचारी मूर्ख भी क्यों बना दिये ?

जब उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता तब जगत में दुराचार, अत्याचार, निर्दय हिंसा आदि पापकार्य क्या उसीकी मर्जी से हो रहे है ? यदि नहीं तो वह ऐसे कुकृत्य क्यों होने देता है ?

ईश्वर जब जगत को बनाता है तब वह उसका प्रलय (सर्व-नाश) भी क्यों कर डालता है ?

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने जैसे वेद-मन्त्रों से हिंसा-विधान दूर करने के लिये उनके अर्थ प्राचीन भावों के प्रतिकूल लिखते हुए नवीन रूप दिया है, इसी प्रकार उन्होंने ईश्वर द्वारा जगत-निर्माण के विषय में भी कुछ नई कल्पनाएँ की हैं। किन्तु उसमें सफल नहीं हो सके। उन्होंने लिखा है कि—

ईश्वर ने सबसे पहले तिब्बत पर बहुत से युवा पुरुष स्त्री अमैथुनी सृष्टि (बिना रज वीर्य के, बिना गर्भाधान के, बिना माता पिता के) से उत्पन्न किये। उनकी यह कल्पना अस्वाभाविक एवं निराधार है। क्योंकि—

मनुष्य गर्भज प्राणी है उसका शरीर बिना रज वीर्य के बन नहीं सकता। सृष्टि की आदि में जब आपके मतानुसार एक भी स्त्री पुरुष नहीं था तब बिना रज वीर्य के मिश्रण रूप गर्भाधान द्वारा स्त्री पुरुषों की उत्पत्ति होना असम्भव है। रज वीर्य मानवीय शरीर का उपादान कारण है, स्त्री पुरुष का संयोग उसका निमित्त कारण है। उन निमित्त और उपादान कारणों के अभाव में मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति रूप कार्य कैसे हो गया ? रज, वीर्य क्रमशः स्त्री और पुरुष के शरीर में शारीरिक रसायन प्रक्रिया से तैयार होते हैं। वीर्य जब तक स्त्री के गर्भाशय मे पहुँच कर रज के साथ न मिले तब तक मानवीय शरीर का निर्माण होना असम्भव है। अतः अमैथुनी सृष्टि निराधार कोरी कल्पना है।

अन्य पशु पक्षी तथा बीजो से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियां भी विना अपने-अपने विभिन्न उपादान कारणों के कभी उत्पन्न नहीं हो सकती उनकी उत्पत्ति भी मनुष्यों की अमैथुनी सृष्टि की तरह यों ही मान लेना कार्य-कारण प्रक्रिया के साथ असम्भव अन्याय करना है।

अशरीरी ईश्वर मूर्तिक जगत का निर्माण कर नहीं सकता। मूर्तिक पदार्थों का निर्माण मूर्तिक द्वारा ही होता है, अमूर्तिक द्वारा नहीं होता।

निर्विकार पूर्ण निरञ्जन ईश्वर में जगत-निर्माण और ससार के प्रलय की इच्छाये होती क्यों हैं ? इच्छा तो अपूर्ण व्यक्ति के हुआ करती है।

परमाणुओ से तुरन्त पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, अग्नि, वायु आदि महान पदार्थ बन जाना अवैज्ञानिक (साइंस के विरुद्ध) एवं अस्वाभाविक है। जड़ परमाणुओं ने ईश्वर की आज्ञा का पालन कैसे किया ? ईश्वर की इच्छा या आज्ञा परमाणुओं ने कैसे सुनी या समझी ? विना हाथ पैर आदि अंग उपांगों तथा अन्य भौतिक साधनों के ईश्वर ने उन परमाणुओ को किस तरह परस्पर मिलाया ?

सर्वज्ञ ईश्वर ने ऐसे मनुष्य उत्पन्न किये जो दुराचारी, नास्तिक, मांसभक्षी, निर्बलों को दुखदायक है ? दुष्ट पशु, पक्षियों को क्यों बनाया ?

सर्वशक्तिमान ईश्वर जगत में भयानक युद्ध, रोग, अनावश्यक जलवर्षा, भूकम्प आदि अव्यवस्थित कार्य क्यों करता है ?

क्यों होने देता है ? अमेरिका ने जापान के दो नगर हिरोशिमा तथा नागासीका पर अणुबम गिराकर लाखों निरपराध स्त्री, पुरुषों, बच्चे व बूढ़ों का क्षण भर मे विनाश कर डाला। क्या ईश्वर सामर्थ्य रहते हुए भी ऐसे अन्याय चुपचाप होने देता है ?

इत्यादि तर्कों के सामने ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना के विषय मे तीनों प्रकार की कल्पनाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। युक्तियुक्त वैज्ञानिक यही सिद्धान्त सिद्ध होता है कि यह जड़ चेतन, चर-अचर पदार्थों से भरा हुआ जगत् बिना किसी के बनाये अनादि काल से चला आ रहा है।

परिणाम

इस प्रकार वैज्ञानिक युक्तियों से यह प्रमाणित होता है कि अनन्त चेतन तथा अनन्तों जड़ चर अचर पदार्थों के समुदाय रूप यह विशाल जगत किसी ने किसी निश्चित समय पर नहीं बनाया और न कभी इसका समूचा विनाश हुआ तथा न कभी भविष्य मे इसका विनाश होगा। यानी-यह जगत अनादि और अकृत्रिम (स्वयंसिद्ध-किसी के द्वारा न बना हुआ) है तथा अनन्त काल तक रहने वाला है।

इस सिद्धान्त के हृदयङ्गम कर (समझ) लेने पर एक तो ससार के बनने-बिगडने के विषय मे भ्रम दूर हो जाता है, यथार्थ बात ज्ञात हो जाती है, दूसरे—ईश्वर के स्वरूप का तथ्य रूप मालूम हो जाता है। उस शुद्ध निरञ्जन निर्विकार परमात्मा को [illegible] का कर्ता (रचने वाला) और सर्वनाश करने वाला मान

कर जो अनेक प्रकार के दोष उस पर आरोपित किए जाते हैं या जगत्कर्ता हर्ता ईश्वर को मान लेने पर अनेक दोष ईश्वर पर लगते हैं, वह भ्रम भी दूर हो जाता है।

तीसरे—इस यथार्थ सिद्धान्त के प्रकाश में मनुष्य के हृदय में आत्मनिर्भरता का उत्साह उत्पन्न होता है। उसकी मनोवृत्ति में महान अन्तर आ जाता है। वह फिर अपने उत्थान और पतन का कर्ता स्वयं अपने आपको समझ कर अपनी उन्नति के लिये आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। उसके हृदय से ऐसी हीन धारणा दूर हो जाती है कि—

'मैं तो कुछ नहीं, मेरा बिगाड़ सुधार तो सब कुछ ईश्वर के अधीन है। मैं कठपुतली के समान हूं, मुझे अनेक तरह के नाच नचाने का धागा परमात्मा के हाथ है, वही मुझे स्वर्ग भेजता है और उसीकी प्रेरणा से मुझे नरक जाना पड़ता है।'

उपर्युक्त सिद्धान्त समझ लेने पर वह ईश्वर के ऊपर निर्भर न रहकर अपनी उन्नति के लिये स्वयं चेष्टा करता है, वह अपने भीतर छिपे हुए अपने ईश्वरीय रूप को प्रगट करने के लिये प्रयत्न करता है। जिससे अपनी आत्मा को वह पहले "महात्मा" बनाता है फिर अचल तपस्या द्वारा आत्मा की पूर्ण शुद्धि करके अपने आपको "परमात्मा" भी बना लेता है।

दासता की हीन भावना—जिसने दिया है तन को, वही देगा कफन को—उसके हृदय से दूर हो जाती है। वह अपने पैरों पर खड़ा होकर आगे बढ़ता है।

इस तरह इस सिद्धान्त से अनेक अचिन्त्य लाभ मनुष्य को प्राप्त होते हैं।

विश्लेषण

जगत में दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते है—१. चेतन, २. जड। जिनमे सुख दुख की अनुभूति होती है, समझने सोचने विचारने जानने की क्रिया होती है वे चेतन पदार्थ हैं, जिनका प्रसिद्ध नाम 'जीव' है। जिन पदार्थों में सुख दुख का अनुभव, समझ बूझ, जानना आदि ज्ञान क्रिया नहीं होती वे पदार्थ 'जड' या अजीव हैं।

चेतन पदार्थ (जीव) अमूर्तिक (अदृश्य) होते हैं, उनमें किसी भी प्रकार का रंग, रूप, गन्ध, स्पर्श, रस नहीं पाया जाता, इसी कारण जीव कभी नेत्रों से दिखाई नहीं देता। वह मूर्तिक शरीर में अवश्य रहता है किन्तु स्वयं अमूर्तिक है। शरीर में रहने के कारण शरीर को पकड़ लेने से वह भले ही पकड़ लिया जावे किन्तु शरीर का निवास छोड़ देने पर शुद्ध (खालिस) जीव को कोई न पकड़ सकता है, न देख सकता है। जीवित शरीर मे चैतन्य जीव का ही चैतन्य होता है, शरीर में से बाहर निकल जाने पर शरीर मे चैतन्य नहीं रहता, वह जीव के साथ चला जाता है। इसी कारण जीव-शून्य शरीर को मुर्दा-मृतक कहते है। उसको पृथ्वी में दबा देने पर जल में डुबा देने पर, अग्नि में जला देने पर अथवा शस्त्रों तथा पशु पक्षियों द्वारा छिन्न भिन्न किये जाने पर भी कुछ दुख का अनुभव नहीं होता।

जड़ पदार्थों के दो भेद हैं—१. मूर्तिक, २. अमूर्तिक। जिनमें [illegible] गर्म आदि किसी न किसी तरह का स्पर्श (छूत), खट्टा, मीठा, [illegible] आदि कोई न कोई रस, किसी न किसी तरह की गन्ध

(ब) और लाल पीला आदि कोई न कोई रंग पाया जाता है यानी-जो पदार्थ छूने, चखने, सूंघने या देखने पकड़ने आदि में आते हैं या आ सकते हैं. वे मूर्तिक जड़ पदार्थ हैं; उनका नाम 'पुद्गल' है, अंग्रेजी में उसे मैटर (MATTER) कहते हैं।

पुद्गलों का मूल रूप 'परमाणु' (ATAM) होता है जो कि बहुत सूक्ष्म होने से दिखाई तो नहीं देता परन्तु उसमे स्पर्श, रस गन्ध, रंग आवश्य होता है। परमाणु अपनी चिकनाई (स्निग्धता) तथा रूक्षता (रूखेपन) के कारण आपस में एक दूसरे से मिल जाते हैं। परमाणुओं का मिला हुआ रूप 'स्कन्ध' कहलाता है। स्कन्धों के अनेक प्रकार हैं। किसी स्कन्ध में वर्ण (रंग) तीव्र होता है तो वह नेत्रो से दिखाई देता है। दिखाई देने वाली वस्तुएं ऐसे ही स्कन्धों से बनी हुई हैं। कुछ स्कन्धों मे वर्ण (रंग) सूक्ष्म होता है, अतः वे दिखाई नहीं देते। ऐसे स्कन्धों से बनी हुई वस्तुएँ छूने में आने पर भी दिखाई नहीं पड़तीं। जैसे वायु। किन ही स्कन्धों मे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारों गुण सूक्ष्म होते हैं तो वे अनन्त परमाणुओं का समदाय रूप होते हुए भी न दिखाई देते हैं, न सूँघने, चखने मे आते हैं। जैसे—शब्द। इस प्रकार पौद्गलिक (मैटीरियल) स्कन्ध अनेक प्रकार के होते हैं।

जिन जड़ पदार्थों में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सर्वथा नहीं होते वे अमूर्तिक जड़ पदार्थ होते हैं। उनके पांच भेद हैं-१-धर्म; जो समस्त गतिशील (क्रियावान) पदार्थों को स्थान से स्थानान्तर होने रूप क्रिया मे सहायक-निमित्त कारण होता है। यह समस्त जगत् मे व्यापक एक अखण्ड पदार्थ है। २-अधर्म; जो कि जगत् समस्त पदार्थों को एक स्थान पर ठहरने की दशा में सहाय

है। यह पदार्थ भी समस्त जगत में व्यापक है, अखण्ड है, और एक है। ३-आकाश; जो कि समस्त पदार्थों को ठहरने को स्थान (स्पेस space) देता है। यह सबसे बड़ा एक अखण्ड पदार्थ है। ४-काल; जो कि समस्त पदार्थों को अपनी २ दशा बदलने (पर्याय पलटने) में निमित्त कारण है। यह अणु रूप होता है।

इस तरह १-जीव, २-पुद्गल, ३-धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश और ६-काल; ये छह प्रकार के पदार्थ (द्रव्य- Substance) इस जगत में हैं। प्रकारान्तर से यों कह लीजिये कि अनन्त जीवों, पुद्गलों, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य काल-अणुओं के समुदाय का नाम ही जगत है। जगत के ये सभी पदार्थ अपने अपने स्थान में अपना २ असाधारण महत्व रखते हैं। प्रत्येक पदार्थ में अनन्त शक्तियां विद्यमान हैं।

जगत के जीव

इस जगत में अनन्तानन्त जीव हैं। उनमें से अनन्त जीव संसार के आवागमन (जन्म मरण) से छुटकारा पाये हुए 'मुक्त' हैं। वे पूर्ण शुद्ध, अजर, अमर, निरञ्जन, निर्विकार, सच्चिदानन्द रूप हैं। उनके ज्ञान, दर्शन सुख, बल आदि समस्त गुण पूर्ण विकसित हैं, अतः वे सर्व-ज्ञाता द्रष्टा, अनन्त शक्तिशाली, अनन्त सुखी हैं। किसी भी तरह के शरीर में वे बन्दी नहीं हैं, अतः उनको न कोई भूख, प्यास, रोग, खेद आदि शारीरिक क्लेश हैं और न चिन्ता, राग, द्वेष, क्रोध, अभिमान, शोक आदि आध्यात्मिक दुख में रंचमात्र भी हैं लोकाकाश के सबसे ऊपरी भाग में वे रहते हैं सांसारिक झंझटों से दूर हैं।

सांसारिक प्राणी

जो जीव कर्म बन्धन में बन्धे हुए हैं उन्हें संसार की जेल में अपने अपराधो के विविध दण्ड भुगतने पड़ते हैं। बन्दीघर (जेल) में जिस तरह प्रत्येक कैदी को रहने के लिये एक एक कोठरी मिलती है, इसी प्रकार संसारी जीवों को भी अपने रहने के लिये भिन्न भिन्न एक एक शरीर मिलता है। जेल में कभी बहुत से कैदी एक ही कमरे मे भी ठूंस दिये जाते हैं, संसार में भी ऐसे अनन्तों जीव (साधारण) होते हैं जिनको सम्मिलित एक ही शरीर मे रहना पड़ता है। जैसे आलू, गाजर आदि।

संसारी जीवों को यदि विभक्त किया जावे तो चार भागों मे बांट सकते हैं-१-देव; जिनको जीवन भर दिव्य सुन्दर शरीर तथा जीवन में प्रायः सभी सुख सामग्री मिलती है, जन्म से लेकर मृत्यु तक जिन्हे कभी कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता। २-मनुष्य; जो कि हम आप सब दिखाई दे रहे हैं। ३-नारकी; जो जन्म से मरण तक कभी रंचमात्र भी सुख शान्ति नहीं पाते, आजीवन विविध प्रकार के दुख भोगा करते हैं। ४-तिर्यञ्च; पहले तीनों तरह के जीवों के सिवाय शेष सब जीव तिर्यञ्च होते है। इनमें पशु, पक्षी, जलचर, थलचर, नभचर, कीड़े-मकोड़े आदि अनेक प्रकार के प्राणी होते हैं।

प्राण

संसारी जीवों का दूसरा नाम 'प्राणी' है। इसका कारण है कि वे जिस शरीर में रहते हैं वह शरीर १० प्रकार [illegible]

द्वारा जीवित रहता है। प्राणधारी होने के कारण ही उन्हे प्राणी कहते हैं।

५ इन्द्रियाँ, ३ बल (मनबल, वचनबल, कायबल) आयु और श्वासनिःश्वास; ये १० प्राण है। छूकर पदार्थों की ठडक, गर्मी आदि का ज्ञान कराने वाली त्वचा (चमड़ा) स्पर्शन इन्द्रिय है। चखकर पदार्थों के खट्टे मीठे आदि रस का बोध कराने वाली रसना (जीभ) इन्द्रिय है। सूंघ कर सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान जिसके द्वारा होता है, वह घ्राण (नाक) इन्द्रिय है। देखकर मूर्तिक पदार्थों के सफेद, काले, लाल आदि रंगों को बतलाने वाली नेत्र (आंख) इन्द्रिय है। सुनकर अक्षरात्मक शब्दों तथा विविध प्रकार की ध्वनियों (आवाजों) का ज्ञान जिसके द्वारा होता है, वह कर्ण (कान) इन्द्रिय है।

सोचने विचारने के आधार—मन की शक्ति मनबल है।
जीभ द्वारा बोलने की शक्ति—वचनबल है।
शरीर द्वारा विभिन्न प्रकार काय करने की शक्ति—कायबल है।

नियत समय तक शरीर में रहने का नियन्त्रण करने वाला आयु है।

सांस लेना, निकालना श्वासनि.श्वास प्राण है।

देव, मनुष्य तथा नारकी जीवों के ये सभी (१०) प्राण होते हैं परन्तु तिर्यञ्चों में मगर, मछली आदि जलचर, घोड़ा, गाय, सिंह, बन्दर, सर्प आदि थलचर पशु, कबूतर, तोता आदि उड़ने नभचर जीवों के पांचों इन्द्रियां तथा मन होता है, इस ो संज्ञी (मनवाले) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च कहते हैं, उनके

१० प्राण होते है। कुछ पंचेन्द्रिय पशु (कोई कोई तोता, पानी का सांप आदि) ऐसे होते हैं कि उनके मन नहीं होता, इस कारण वे किसी संकेत (इशारा), क्रिया (किसी तरह का सिखाया जाने वाला काम) और आलाप (मनुष्य की बोली) को नहीं ग्रहण कर सकते जैसे कि पालतू पशु पक्षी समझ लेते हैं। ऐसे पचेन्द्रिय जानवरों को असैनी या असज्ञी पंचेन्द्रिय कहते है उनके मनवल के सिवाय शेष ६ प्राण होते हैं।

मक्खी मच्छर आदि उड़ने वाले छोटे कीड़ा के मन तथा कान नहीं होते, वे चार-इन्द्रिय जीव होते हैं। उन जीवों के कान और मनवल के सिवाय शेष ८ प्राण होते हैं।

रेंगने वाले कीड़े मकोड़ों के मन कान, आंख नहीं होती इस कारण वे तीन-इन्द्रिय जीव होते हैं। उनके मनवल, कान, आंख छोड़कर शेष ७ प्राण होते हैं।

जोंक, कौड़ी, शंख, सीप, गेडुआ आदि के स्पर्शन और रसना ये दो ही इन्द्रियां होती हैं, अतः उनके स्पर्शन, रसना ये दो इन्द्रियां तथा वचनवल, कायवल, आयु और श्वास ये ६ प्राण होते हैं।

वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन जीवो के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, उसी से वे साँस लेना, भोजन लेना आदि काम करते हैं। उन एक-इन्द्रिय जीवों के पहली इन्द्रिय, कायवल, आयु और श्वास नि.श्वास ये चार प्राण होते हैं। ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु निर्जीव तथा सजीव दोनो तरह के होते हैं। [illegible] हुआ वृक्ष वनस्पति आदि निर्जीव होते ही हैं।

इन पाँचों एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहते हैं। तथा दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेद्रिय जीवों को त्रस कहते हैं।

वनस्पतियों में आलू, गाजर, मूली की जड़, अदरक, प्याज, सकरकन्दी आदि कन्दमूल है। इन एक-एक में अनन्त जीव अपना शरीर बना कर रहते हैं। यानी—एक आलू या गाजर आदि अनन्त जीवों का समान रूप से एक ही शरीर है। वे सब जीव एक साथ जन्म लेते हैं, एक साथ सांस लेते है, एक साथ मरते हैं, अतः इनको साधारण वनस्पति कहते है।

आम, अनार आदि वृक्ष, बेल, पौधे आदि वनस्पतियो में सर्वशरीर-व्यापी एक ही जीव होता है—उनको प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

वनस्पतियों में एक जाति की ऐसी सूक्ष्म वनस्पतियां भी होती हैं जो बहुत थोड़े स्थान में अनन्तो रह जाती हैं और अपना शरीर पूरा करने से पहले ही उनकी मृत्यु हो जाती है। उनको निगोद वनस्पति कहते हैं। उनमें अनन्तों सूक्ष्म निगोद जीव ऐसे है जो अनादि समय से उसी दशा में जन्मते मरते चले आ रहे हैं, उन्हे नित्य निगोद कहते हैं। अनन्तों निगोदी जीव ऐसे होते हैं जो अन्य योनियों में जन्म-मरण करके फिर निगोदी जाति में आ जाते हैं, उन जीवों को इतर निगोद कहते हैं।

१—पृथ्वीकाय, २—जलकाय, ३—अग्निकाय, ४—वायुकाय, ५—वनस्पतिकाय और ६--त्रसकाय इस तरह भी संसारी जीवों को ६ वर्गों में बांटा गया है।

योनि

जीवो के उत्पन्न होने के ठंडे, गर्म, खुले, ढके, सजीव, निर्जीव आदि स्थानों को योनि कहते हैं। समस्त संसारी जीवों की ८४ लाख योनियां होती हैं। उनका विवरण संक्षेप से यों है—

नित्य निगोद की ७ लाख।
इतर निगोद की ७ लाख।
अन्य वनस्पतियो की १० लाख।
दो इन्द्रिय जीवों की २ लाख।
तीन इन्द्रिय जीवों की २ लाख।
चार इन्द्रिय जीवो की २ लाख।
देवों की ४ लाख।
नारकियो की ४ लाख।
पंचेन्द्रिय जानवरो की ४ लाख।

मनुष्यों की १४ लाख तरह की योनियां (उत्पत्ति स्थान) होती हैं।

इस प्रकार संसार मे भ्रमण करने वाले संसारी जीव अगणित प्रकार के हैं।

वास्तव में

जिस प्रकार जल एक ही प्रकार का होता है परन्तु उस भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थों का तथा पृथ्वी का संयोग मिल पर वह अनेक प्रकार का हो जाता है। किसी पृथ्वी

जल खारा हो जाता है, कहीं का मीठा हो जाता है, किसी गन्धक आदि पदार्थों के स्थान का जल गर्म होता है, किसी स्थान का (काला समुद्र आदि) जल भारी होता है, कहीं का दुर्गन्धित और कहीं का सुगन्धित, कहीं का काला, कहीं का सफेद आदि होता है। इत्यादि—जल को जैसा जहां संयोग मिलता है, वैसा वहां हो जाता है। वास्तव में (शुद्ध जल की दृष्टि से) सभी जल एक समान है।

इसी प्रकार समस्त जीव वास्तव मे (द्रव्य दृष्टि से) एक समान हैं, सब में एक समान ज्ञान दर्शन सुख बल आदि गुण हैं, किन्तु भाग्यवश उनको जैसा शरीर आदि बाहरी नैमित्तिक साधन मिलता है उसी के अनुसार उन समान शक्ति-धारक जीवों में परस्पर अन्तर आ जाता है।

देव, हाथी, मनुष्य, चींटी के आत्मा में वास्तव दृष्टि से रंच मात्र भी अन्तर नहीं है, किंतु भाग्य-वश उनको जैसी गति, योनि प्राण, शरीर आदि बाह्य सामग्री मिली है उसीके अनुसार उनके उनके सुख, ज्ञान, बल आदि में परस्पर अन्तर है ही। अपनी अपनी जाति, वर्ग, काय के जीवों में भी महान अन्तर दिखाई दे रहा है। मनुष्य शरीर की अपेक्षा सभी मनुष्य एक समान हैं किन्तु देश, शरीर, रंग रूप, बल सुख, दुख, धनिकता, निर्धनता, दुराचार, सदाचार, विद्वत्ता, मूर्खता, सभ्यता, असभ्यता आदि विभिन्न अपेक्षाओं से मनुष्यों में भी महान अन्तर दीख रहा है।

इस अन्तर का डालने वाला निमित्त कारण है—'भाग्य' कर्म, तकदीर, किस्मत आदि अनेक शब्दों से कहा जाता है।

आत्मा के कुछ महत्वपूर्ण गुण

ज्ञान

जीव या आत्मा का मुख्य गुण ज्ञान है, जिसके द्वारा आत्मा स्वयं अपने आपको तथा अन्य पदार्थों को जाना करता है। जैसे कि सूर्य, चन्द्र, दीपक, बिजली, गैस आदि ज्योतिर्मान पदार्थ अपना रूप भी दिखलाते हैं, साथ ही अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करते हैं। ज्ञान गुण प्रत्येक जीव में — चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यों न हो — पाया जाता है।

सात वर्ष का छोटा बालक पाठशाला में पढ़ने जाता है, वहां पर अध्यापक लकड़ी की पट्टी, पत्थर की स्लेट तथा पुस्तक द्वारा उस बालक को पढ़ाना प्रारम्भ करता है। उस बालक का ज्ञान प्रतिदिन बढ़ता जाता है। आगे आगे की कक्षा प्राप्त करता हुआ अध्यापक, पुस्तक, कापी, लेखिनी के सहारे अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है। प्रारम्भ में उसको अक्षर ज्ञान नहीं था, पाठशाला में पहुँच कर उसमें अक्षर ज्ञान विकसित हुआ, धीरे धीरे पुस्तकों का ज्ञान उसको होता चला गया। एक दिन वह विश्वविद्यालय की किसी एक अथवा अनेक विषयों की शिक्षा को समाप्त करके महान विद्वान बन गया।

यहां प्रश्न यह है कि उस अक्षर-ज्ञान—हीन बालक में वह महान विविध शास्त्र-ज्ञान कहां से आगया? क्या वह ज्ञान उसे पुस्तकों ने प्रदान किया अथवा अध्यापक ने अपना ज्ञान उसे दे दिया।

पुस्तक ने तो ज्ञान विद्यार्थी को दिया नहीं, क्योंकि पु[illegible] स्वयं ज्ञान-शून्य जड़ पदार्थ है, वह अन्य व्यक्ति को ज्ञा[illegible]

से दे सकती है। यदि पुस्तक ही ज्ञान दे देती तो संसार में कोई भी व्यक्ति अपढ़ न रहता, पुस्तकें खरीदकर सभी मनुष्य ज्ञानवान विद्वान बन जाते।

अध्यापक ने भी अपना ज्ञान विद्यार्थी को नहीं दिया, क्योंकि यदि अध्यापक अपना ज्ञान विद्यार्थी को दे देता तो वह स्वयं ज्ञानहीन बन जाता, उसका ज्ञान उतनी मात्रा में कम हो जाता जैसे कि किसी रोगी को अपने शरीर का रक्त देने वाले व्यक्ति का अपने शरीर का रक्त कम हो जाता है। सो ऐसा होता नहीं, विद्यार्थियों को पढ़ाते रहने से अध्यापक का ज्ञान और अधिक बढ़ता जाता है, रंचमात्र भी कम नहीं होता।

ऐसी दशा में विद्यार्थी में वह ज्ञान आया कहां से? इस प्रश्न का समाधान यही मिलता है कि ज्ञान का विशाल भण्डार विद्यार्थी के आत्मा में पहले ही भरा हुआ था, वह विशाल ज्ञान छिपा हुआ था, अध्यापक ने पुस्तक के द्वारा विद्यार्थी के उस छिपे हुए ज्ञान को प्रगट कर दिया। जैसे धोबी कपड़े में सफेदी (स्वच्छता) अपने पास से ही नहीं ला देता। सफेदी या स्वच्छता उस कपड़े में पहले से ही होती है, मैल से वह सफेदी छिप जाती है, धोबी साबुन और पानी से उस मैल को दूर कर देता है, ऐसा करते ही कपड़े की सफेदी स्वच्छता स्वयं प्रगट हो जाता है।

चाकू जब मोंथरा (ब्लंट Blunt) हो जाता है तब साण पर चढ़ाकर उस चाकू पर धार रखवा लेते हैं। साण चढ़ाने वाला उस चाकू में धार अपने पास से नहीं देता। धार (तीक्ष्णता) उस चाकू मे पहले से विद्यमान (मौजूद) होती है, वह साण वाला [illegible]ी साण पर उस चाकू को घिसकर उसकी घिसी हुई उस

धार को प्रगट कर देता है।

विद्यार्थी के ज्ञान के विषय में भी ठीक ऐसी ही बात है। अध्यापक पुस्तकें; कागज, कलम, दवात आदि विद्यार्थी मे कोई नया ज्ञान उत्पन्न नहीं करते, वे समस्त पदार्थ केवल उस विद्यार्थी के दबे छिपे ज्ञान को चमका देते है। ज्ञान की उस ज्योति (चमक) को विद्यार्थी प्रयत्न करे तो और भी अधिक बढ़ा सकता है। हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस (वाराणसी) का एक प्राध्यापक (प्रोफेसर) दो दो वर्ष पीछे नवीन नवीन विषय मे एम. ए. परीक्षा पास करता रहता है, वह इस समय लगभग १६ विषयों का एम. ए है।

इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का निजी गुण है, अतः वह थोड़ी या अधिक मात्रा में प्रत्येक जीव मे पाया जाता है। जो व्यक्ति उसका जितनी मात्रा मे विकास करता है उतनी मात्रा में वह ज्ञानवान विद्वान बन जाता है।

मूर्ख, विद्वान, ज्ञानवान, ज्ञानहीन, अज्ञानी आदि जो किसी को कहा जाता है वह ज्ञान की थोड़ी या अधिक मात्रा की अपेक्षा से कहा जाता है। वास्तव में कोई भी जीव; वह चाहे एकेन्द्रिय निगोदी ही क्यो न हो, सर्वथा ज्ञानशून्य नहीं होता, अल्पमात्रा मे ज्ञान उसको भी होता है।

सुख

आत्मा का दूसरा उल्लेखनीय गुण 'सुख' है। इष्ट अनु- अनुभूति (Feelings) का नाम सुख है।

संसार में सुन्दर वस्त्र, भोजन, घर, पुत्र, मित्र, परिवार तथा अपना शरीर एवं धन आदि सामग्री सुखदायिनी मानी जाती है। यानी-जीव को सुख इन पदार्थों से मिला करता है, ऐसी सब साधारण जनता की मान्यता है।

इस मान्यता के अनुसार यदि सुन्दर वस्त्र एवं बहुमूल्य भूषण सुखदायक हों, तो वे सदा जीव को सुखदाता होने चाहिये परन्तु ऐसा है नहीं। यदि कोई मनुष्य भूख प्यास या किसी रोग से व्याकुल है उस समय उसको सुन्दर वस्त्र आभूषण दिये जावें तो उनसे उस मनुष्य को रंचमात्र भी सुख नहीं मिलता।

अच्छे क़ीमती वस्त्र तथा रत्न सुवर्ण के आभूषण पहने हुए मनुष्य के सामने खूंख्वार निर्दय डाकू आ खड़ा हो तो उस समय वे वस्त्र आभूषण उसे प्राणग्राहक महान् दुखदाता प्रतीत होते हैं। अनेक बच्चों तथा स्त्री पुरुषों की जान इन वस्त्र आभूषणों के ही पीछे चली जाती है। इससे प्रमाणित होता है कि मूल्यवान वस्त्राभूषण सुख नहीं दिया करते।

'स्वादिष्ट भोजन सुख देता है' यह धारणा भी असत्य है, पहले तो स्वादिष्ट भोजन की एक कोई सर्वसम्मत (सब जीवों द्वारा मानी गई) परिभाषा नहीं है। अन्न-भोजी व्यक्ति अन्न के बने हुए पदार्थों को स्वादिष्ट समझते हैं, मांस-भक्षी जीव मांस का भोजन रुचिकर समझते हैं, कोई मीठा रस अच्छा समझता है किसी को खट्टा नमकीन चर्परा रस स्वादिष्ट मालूम होता [illegible]ंट को नीम के पत्ते भी स्वादिष्ट लगते हैं, कोई पान को [illegible] खाता है, कोई उसे मुख में भी नहीं रखना चाहता। इस

तरह किसी भी पदार्थ को समस्त जीवों की दृष्टि से स्वादिष्ट नहीं कहा जा सकता।

दूसरे—अपनी अपनी रुचि के अनुसार भोज्य पदार्थ ही सुखदायक माने जावें तो वे भी भूख तृप्त हो जाने पर सुखदाता नहीं रहते। बड़े बडे भोजन भट्ट भी पेट भर जाने पर लड्डू पेड़े कलाकन्द से नाक भों सिकोड़ने लगते हैं, यदि किसी व्यक्ति को पित्तज्वर हो गया हो तो मीठा दूध भी उसे अरुचिकर प्रतीत होता है।

तीसरे—यदि किसी मनुष्य का प्रिय पुत्र मित्र या स्त्री मर जावे अथवा धन नष्ट हो जावे अथवा उसका कोई महान अपमान हो जावे तो सुन्दर से सुन्दर रुचिकर भोजन भी उसे नहीं रुचते, नीरस प्रतीत होते हैं, उनका एक ग्रास (कौर) भी मुख में नहीं रक्खा जाता।

बहुत से स्वादिष्ट भोज्य पदाथ जीभ को अच्छे सुखदायक प्रतीत होते हैं परन्तु जठराग्नि की पाचन शक्ति उन्हें नहीं चाहती, वह तो कड़वी औषध चाहती है। यदि उसकी इच्छा न मानकर जीभ को सन्तुष्ट करने का यत्न किया जाता है, तो रोगों की सेना आ घेरती है। हैजे में समस्त जीवों को रुचिकर जल यदि पिला दिया जावे तो तत्काल मृत्यु सामने नाचने लगती है।

इस कारण मानना पड़ेगा कि भोजन भी सुख नहीं देता यदि भोजन सुख ही देता होता तो सदा प्रत्येक दशा में उससे सुख मिलना चाहिये था।

धन तथा घर भी सुख नहीं देते। रोगी मनुष्य के

रत्नों तथा सोने का ढेर लगा हुआ हो तो उसको उससे रंचमात्र भी सुख का अनुभव नहीं होता। लाहोर मे एक लखपति धनिक व्यापारी था, उसकी पाचन शक्ति बचपन से ही इतनी निर्बल होगई थी कि वह केवल मूंग की दाल का पानी पीकर ही रहता था। बाजार में आते जाते जब वह सुन्दर स्वादिष्ट ताजे फल तथा मेवे देखता था, घर में बने हुए अच्छे भोजनों पर जब उसकी दृष्टि पड़ती थी तो वह अपना मन मसोम कर रह जाता था। वह अच्छा स्वास्थ्य पाने के बदले में अपनी समस्त सम्पत्ति भेंट चढ़ा देना चाहता था।

कलकत्ता में रहने वाले बंगाल के एक बड़े भूमिपति (जमीदार) की भी यही दशा थी। उसके लिये ४०-५० तरह के सुन्दर स्वादिष्ट भोजन बनाये जाते थे। उसकी माता चांदीके बड़े थाल में सब भोजन सजा कर उसके सामने लाती थी और बड़े स्नेह से अपने युवक पुत्र को उन भोजनों का नाम बतलाती जाती थी, वह सब भोजनों को देख लेने के अन्त में एक कटोरे में रक्खे हुए जौ के पानी को उठा कर पी जाता था शेष भोजन को हाथ भी न लगाता था। जौ के रस के सिवाय अन्य कोई चीज उसे नहीं पचती थी।

इसके सिवाय चोर डाकू, भाई आदि भी धन के कारण ही लूटने, खसोटने, मारने आदि के लिये आ जाते हैं, अतः धन को सुख देने वाला मानना गलत है।

भूकम्प के समय जब बड़े मकान गिर पड़ते हैं, तब उन मकानों के स्वामी उनमें जीवित मर जाते हैं, उस विपत्ति के समय [illegible]ल करते हैं कि हमारे पास इतना बड़ा विशाल मकान न

होकर छोटा सा झोंपड़ा होता तो हमारे प्राण तो बच जाते।

इससे सिद्ध होता है कि धन तथा घर को सुखदायक मान लेना भी भ्रम है।

पुत्र, स्त्री, माता, पिता, मित्र भी तभी तक सुखदायक प्रमाणित (साबित) होते हैं जब तक वे अपने अनुकूल चलते हैं। जब वे किसी स्वार्थ-वश अपने अनुकूल (मुआफिक) न रहे तो वे ही पुत्र, मित्र, स्त्री, माता पिता दुखदायक बन जाते हैं। यह बात इस बात की साक्षी है कि वास्तव में परिवार के व्यक्ति तथा मित्र आदि भी सुख नहीं देते, यदि वे सुख ही देते तो कभी कभी दुख क्यों देने लगते हैं।

शरीर सुखदायक है ?

आत्मा के साथ सदा रहने वाला शरीर ही आत्मा को सुख देता है, क्योंकि वह सदा आत्मा की इच्छानुसार स्वामि-भक्त दास की तरह काम करता रहता है, आत्मा जो बात नहीं चाहता, शरीर वह काम नहीं करता। शरीर ही आत्मा को सुख का अनुभव कराता है। स्पर्शन, रसना, नाक, आंख, आदि इन्द्रियां जो जीव को सुख देती हैं वे शरीर की ही तो हैं।

परन्तु ऐसी धारणा भी गलत है क्योंकि जिस शरीर को सुख देने वाला माना जाता है वही शरीर-रोग हो जाने पर आत्मा को महान दुख देता है। गठिया वायु का रोगी शरीर उस मनुष्य को जो पीड़ा पहुँचाता है, उसे कहा या लिखा नहीं जा सकता। उस मनुष्य की इच्छा होती है कि यदि मेरे यह शरीर न होता मुझे शान्ति मिल जाती।

यदि स्वस्थ (तन्दुरुस्त) शरीर को आत्मा के लिये सुख देने वाला माना जावे तो वह बात भी नहीं बनती क्योंकि जब धन, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि इष्ट पदार्थ का वियोग हो जाता है, उनमें से कोई भी नष्ट भ्रष्ट हो जाता है तो नीरोग बलवान शरीर रहते हुए भी आत्मा को सुख शान्ति नहीं मिलती, उस समय शरीर निढाल निष्क्रिय बन जाता है।

इस तरह शरीर भी सुख देने वाला सिद्ध नहीं होता।

सारांश

इस सबका सारांश यह है कि वस्त्र, भोजन, आभूषण, धन, भवन, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि परिकर तथा अपना शरीर भी वास्तव मे सुख नहीं देते। अतः अपना सुख इन दूसरी वस्तुओं मे नहीं है।

आत्मा का सुख अपने भीतर ही है, बाहर कहीं पर नहीं है। इसी कारण धन आदि उन सब चीजों के न होते हुए भी वन, पर्वत, गुफा आदि निर्जन स्थानों मे नग्न शरीर रहने वाले साधु तपस्वी सुख शांति से रहते हैं, उन्हे संसार की सभी चीजे दुख-दायक प्रतीत होती हैं।

इससे सिद्ध होता है कि सुख आत्मा का अपना गुण है।

और भी

जिस प्रकार ज्ञान और सुख आत्मा के अपने निजी गुण है क्योंकि आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ मे उनका अस्तित्व नहीं मिलता, इसी प्रकार 'दर्शन, वीर्य (बल)' आदि अन्य गुण भी [illegible] मे पाये जाते है।

बाहरी पदार्थों का आकार (प्रतिभास) जिस समय आत्मा के चैतन्य उपयोग में नहीं पड़ता, उस चैतन्य परिणति को 'दर्शन' कहते हैं। इसी कारण ऋषियों ने दर्शन गुण को 'निराकार' बतलाया है। किसी भी प्रकार के ज्ञान में (वह चाहे छोटा हो या बड़ा) बाहरी पदार्थों का आकार झलकता है, मानसिक ज्ञान द्वारा जिन पदार्थों का चिन्तन, स्मरण, मनन किया जाता है उन पदार्थों का आकार ज्ञान में स्वयं प्रतिबिम्बित होता है, अतः ज्ञान को 'साकार' (बाहरी पदार्थों के आकार सहित) कहा गया है।

चैतन्य उपयोग आत्मा के सिवाय अन्य किसी जड़ पदार्थ में नहीं मिल सकता अतः 'दर्शन' आत्मा का ही एक विशेष गुण है।

'वीर्य' यानि 'बल' यद्यपि जड़ पदार्थों में भी होता है किन्तु वह बल जड़ (अचेतन) रूप होता है जैसा कि लोहे पत्थर आदि में प्रतीत होता है। जीव में भी अपना पृथक् चैतन्यात्मक 'वीर्य' (बल-शक्ति) गुण पाया जाता है जिससे कि आत्मा में उत्साह, पराक्रम प्रतीत होता है। ज्ञान के उपयोग में भी उस आत्म-बल की सहायता अपेक्षित होती है। निर्बल व्यक्ति का ज्ञान बलवान व्यक्ति के समान गम्भीर सूक्ष्म विचार विमर्ष नहीं कर सकता। शरीर से दुबले पतले होते हुए भी बहुत से मनुष्य बड़े शूरवीर एवं बहुत सूक्ष्म विचारक होते हैं, यह सब कार्य आत्मा के अपने वीर्य (बल) गुण से होता है।

ज्ञान की सीमा

आत्मा का ज्ञान गुण किस सीमा (हद) तक पदार्थों को [illegible] सकता है यानी उसका विकास कहां तक हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यही मिलता है कि आत्मा यदि प्रयत्न करे तो वह अपने ज्ञान का पूरा विकास कर सकता है और पूर्ण विकसित ज्ञान जगत के सब पदार्थों को एक साथ बिल्कुल स्पष्ट जान सकता है। यानी--किसी एक अथवा कुछ अनेक विषयों की विशेषज्ञता द्वारा ज्ञान की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती।

प्राचीन समय में अनेक ऋषि महर्षियो को दिव्य ज्ञान हुआ करते थे, जिनके द्वारा वे बहुत दूर-देशवर्ती तथा अनेक भव-सम्बन्धी भूत भविष्यत की बातें सत्य स्पष्ट जान लेते थे, उनकी स्मरण शक्ति भी अद्भुत होती थी। यद्यपि इस समय वैसे दिव्य ज्ञानी व्यक्ति तो कहीं नहीं पाये जाते परन्तु फिर भी विशिष्ट विद्वान् अवश्य मिलते है जिनके ज्ञान का अद्भुत विकास देखकर ज्ञान की सीमा बांधना कठिन ही नहीं असम्भव है।

श्री अकलंक देव ६वी शताब्दी मे महान् प्रतिभाशाली विद्वान हुए हैं एक बार पढ़ लेने मात्र से उनको वह पठित विषय याद हो जाता था। इस समय भी अनेक विद्वान ऐसे हुए है जिनको एक बार सुन लेने पर या पढ़ लेने पर वह विषय याद हो जाता था, दुबारा सुनने या पढ़ने की आवश्यकता उन्हें न होती थी।

प्रसिद्ध स्वर्गीय विद्वान लाला हरदयाल जी एम. ए. ऐसे ही थे। विदेश यात्रा के समय जहाज मे एक अंग्रेज विद्वान ने अपनी एक लिखित पुस्तक उन्हें दिखलाई। लाला हरदयालजी ने पढ़कर उस पुस्तक को समुद्र मे फेंक दिया। वह अंग्रेज अपने परिश्रम का इस तरह नाश हुआ देखकर बहुत दुखी हुआ। तब लाला हरदयाल जी ने उसे सांत्वना दी और जहाज मे यात्रा करते हुए वैसी ही पुस्तक लिखकर उस अंग्रेज को दे दी। वह अंग्रेज उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति देखकर चकित रह गया।

अंग्रेजी शासन जमने के प्रारम्भ में बंगाल में एक नदी के किनारे पर दो अंग्रेज जलक्रीड़ा करते हुए आपस में बातें करने लगे, बातें करते करते वे दोनों लड़ पड़े। उनके समीप ही संस्कृत भाषा के विद्वान किन्तु इङ्गलिश भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ एक ब्राह्मण भी नहा रहे थे उन्होंने दोनों अंग्रेजों की बातें सुन लीं, परन्तु उन्हें यह मालूम न हुआ कि उन बातों का अर्थ क्या है।

न्यायालय (अदालत) में दोनों अंग्रेजों का झगड़ा पेश हुआ साक्षी के लिये उन ब्राह्मण विद्वान को बुलाया गया, उन्होंने न्यायाधीश (जज) के सामने दोनों अंग्रेजों की सुनी हुई अंग्रेजी भाषा की समस्त बातें हू बहू क्रमवार सुना दीं। जिसको कि दोनों अङ्गरेजों ने भी स्वीकार किया। जज उस ब्राह्मण विद्वान की अद्भुत स्मरण-शक्ति देखकर दंग रह गया। उसे विश्वास न हुआ कि वह विद्वान अंग्रेजी भाषा बिल्कुल नहीं जानता किन्तु वास्तव में वह अंग्रेजी बिल्कुल न समझते थे।

एक अतुलचन्द्र चौधरी नामक बंगाली लड़के की अद्भुत प्रतिभा थी, वह १२ वर्ष की आयु में एम. ए. कक्षा के गणित के प्रश्न ठीक हल कर देता था, इससे उसको कालेज के आचार्य (प्रिंसिपल) ने एम. ए. का प्रमाणपत्र दे दिया था। दुर्दैव से वह लड़का मर गया अन्यथा पता नहीं कितना बड़ा विद्वान बनता।

भारत के प्रसिद्ध राष्ट्रनेता श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक १७ भाषाओं के विद्वान थे। हिन्दू विश्व विद्यालय के एक प्रोफेसर १५ विषयों में एम. ए. पास कर चुके हैं। फिर भी अन्य नवीन नवीन विषयों में एम. ए. पास करने के लिये उत्सुक रहते हैं।

किसी अच्छे प्रतिभाशाली विद्यार्थी को यदि जन्म भर पढ़ने लिखने की सुविधा दी जावे तो कुछ अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वह कहां तक पढ़कर अपने ज्ञान का विकास कर सकता है।

यह बात इन्द्रिय ज्ञान तथा मानसिक ज्ञान की है, अतीन्द्रिय (इन्द्रियों तथा मन की सहायता न लेकर आत्मशक्ति से होने वाले) ज्ञान का विषय तो और भी अधिक विलक्षण है।

इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। वह अनन्त है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ को जान सकता है, उसके लिये देश और काल की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

सुख की सीमा

यद्यपि जगत में इन्द्रियों के अनुकूल विषय भोगों के मिल जाने पर शारीरिक आनन्द को ही प्रायः सुख माना जाता है। परन्तु सुख की यह परिभाषा ठीक नहीं है क्योंकि शोक, चिन्ता, व्याकुलता के समय इन्द्रियों के विषय भोग भी आत्मा को आनन्द नहीं देते। अतः सुख की निर्दोष परिभाषा "आत्मा को शोक, चिन्ता, व्याकुलता का न होना" है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि "निश्चिन्त रूप से प्रसन्नता के साथ आत्मा का स्वस्थ (आत्मा-निमग्न) होना 'सुख' है।

जगत में एक से बढ़ कर एक व्यक्ति स्वस्थ, प्रसन्न, सुखी [illegible]ता है। यद्यपि संसारी प्राणी को सुख स्थायी नहीं होता क्योंकि [illegible] समय पीछे भूख, प्यास, खेद, चिन्ता, नींद आदि में से

कोई न कोई आकुलता उसे आ घेरती है, किसी न किसी तरह का भय तो संसार में प्रत्येक जीव को सदा बना ही रहता है। जन्म, मरण का चक्र चलता ही है। ऐसी दशा में संसारी जीव को स्थायी, पूर्ण स्वतन्त्र, स्वस्थ प्रसन्न सुख प्राप्त कहां से हो। किन्तु फिर भी जो सुख मिलता है उसकी भी सीमा (हद) नहीं निश्चित की जा सकती।

पूर्ण विकसित स्वाधीन सुख ही चिरस्थायी होता है, अतः उसका काल की सीमा से तथा भाव की सीमा से भी अन्त नहीं होता, इसी कारण वह अनन्त होता है।

इसी प्रकार आत्मा के दर्शन, बल आदि गुणों की भी कुछ सीमा नहीं है, वह भी अनंत होते है।

फिर

जबकि आत्मा असीम (अनन्त) ज्ञान का धनी है, तब संसार के प्राणी विविध रूप से अल्पज्ञानी क्यों हैं ? एकेन्द्रिय निगोदी जीव को अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ही ज्ञान होता है। कीड़े मकोड़ों मे भी ज्ञान की बहुत कमी है, पशु पक्षी भी विशेष ज्ञानी नहीं होते। जंगली, अशिक्षित असभ्य मनुष्य भी महान मूर्ख होते हैं। शिक्षित मनुष्यो मे भी ज्ञान का तारतम्य (कमी बेशी) दिखाई देती है। पूर्ण ज्ञानी तो इस समय कोई दिखाई देता ही नहीं।

यह ज्ञान की कमी क्यों है ?

जब कि सुख गुण आत्मा का अपना है और वह भी अनन्त होता है, तब वह संसार मे किसी भी जीव के पूर्ण रूप पाया क्यों नहीं जाता ? असख्य जीव जीवन भर नारकी

उठाते हैं, असंख्य जीव भूख प्यास से तड़फड़ाते रहते हैं, असंख्य जीवों को मानसिक वेदना (दुख) होती है। जो व्यक्ति सुखी दिखाई देते हैं वे भी किसी न किसी प्रकार के दुख के शिकार होते ही है। समस्त चिन्ताओं, आकुलताओं, भयों से छूटा हुआ एक भी प्राणी ससार में नहीं मिलता।

यह सुख का अभाव या सुख की तरतमता क्यों देखने मे आ रही है?

इसी प्रकार आत्मा जब अनन्त शक्ति का स्वामी है तो वह ससार में हीनशक्ति क्यों दिखाई देता है? किसी मे शारीरिक बल की कमी है, किसी मे आध्यात्मिक बल बहुत थोड़ा है, किसी का मानसिक बल क्षीण है। अनन्त बल तो संसार में किसी भी जीव में नहीं है।

बल के इस ह्रास का क्या कारण है?

प्रतिबन्धक कारण

दिन के समय भी यदि सूर्य का प्रकाश फीका हो, उसका प्रताप (धूप) प्रगट न हो, तो उसका कुछ कारण होता है। आकाश मे छाया हुआ कोहरा अथवा भारी धुआं या घने बादल जब ऊपर छा जाते हैं तो सूर्य का प्रकाश और प्रताप (धूप) छिप जाता है, काली आंधी तो दिन में ही काली रात्रि का दृश्य (नजारा) खड़ा कर देती है।

जल स्वभाव से ठण्डा होता है, यदि जल गर्म होता है, तो उसके स्वभाव बदलने का भी कोई कारण होता है। जल-स्रोत समीप यदि दहनशील पदार्थ (गन्धक आदि) की खान हो तो

उसके सम्पर्क से उस स्रोत का जल गर्म हो जाता है एवं अग्नि पर चढ़ाया हुआ जल अपना ठंडा स्वभाव छोड़कर गर्म हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य स्वाभाविक बातें भी प्रतिकूल (अपने स्वभाव से उल्टी) या विकृत होती हैं तो उनका भी कोई कारण अवश्य होता है। प्रतिबन्धक (स्वभाव को छिपा देने वाला) कारण के बिना कभी कोई अस्वाभाविक (स्वभाव के विरुद्ध) बात नहीं हुआ करती।

इसी प्रकार कभी भी किसी भी पदार्थ या घटना से नष्ट होने वाला, सदा जीवित रहने वाला आत्मा भी संसार में जो जन्म मरण का शिकार होता है या कहा जाता है तो उसका भी कोई कारण है।

अनन्त सुखी आत्मा का सुख जो दुख रूप में परिणत हो जाता है उसका भी कोई कारण अवश्य है।

अनन्त ज्ञानकी जाज्वल्यमान ज्योति संसार के प्राणियों में नाम मात्र को उपलब्ध होती है तो उसका भी कोई प्रतिबन्धक कारण होना ही चाहियें।

संसारी प्राणियों में जो अनन्त बल का विकास नहीं है, बल के उस ह्रास का भी कुछ कारण अवश्य है।

सूर्य के प्रकाश और प्रताप (धूप) के प्रतिबन्धक कारण बादल, कोहरा, आंधी आदि दिखाई देते हैं; जल के शीत स्वभाव को विकृत कर देने वाले प्रतिबन्धक कारण अग्नि आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु आत्मा के गुणों के प्रतिबन्धक कारण दिखाई नहीं देते।

आत्मा स्वयं सूक्ष्म पदार्थ है; अतः उसका प्रतिबन्धक कारण भी सूक्ष्म ही होना चाहिये, इसी कारण वह प्रतिबन्धक कारण नेत्रों से दिखाई नहीं देता। यद्यपि संसारी जीव का दिखाई देने वाला शरीर सदा (आजीवन) आत्मा के साथ रहा करता है परन्तु वह आत्मा के ज्ञान, सुख, बल आदि गुणों का प्रतिबन्धक नहीं बन सकता, क्योंकि उस शरीर का उपभोग आत्मा अपनी इच्छानुसार स्वय किया करता है। जिस तरह घोड़े का स्वामी घोड़े पर सवारी करके अपनी इच्छानुसार घोड़े से काम लेता है; इसी प्रकार आत्मा भी शरीर का स्वामी बनकर अपने शरीर से दास की तरह अपनी इच्छानुसार काम लेता है। इस कारण आत्मा का दास (नौकर)—शरीर आत्मा के गुणों का प्रतिबन्धक नहीं बन सकता।

अन्य बाहरी पदार्थ भी ज्ञान आदि गुणों के प्रतिबन्धक नहीं बन सकते क्योंकि आत्मा के साथ उनका सदा तथा निकट सम्पर्क नहीं रहता।

आत्मा के अपने गुण एक दूसरे के प्रतिबन्धक (ह्रास करने वाले या छिपाने वाले) हो नहीं सकते क्योंकि यदि एक द्रव्य के ही गुण परस्पर में बाधक बने तब तो उस द्रव्य के सभी गुणों का ह्रास होता चला जायेगा जिस का परिणाम यह होगा कि वह द्रव्य ही नष्ट भ्रष्ट हो जावेगा। अतः आत्मा के गुण परस्पर में सहायक तो हो सकते हैं और होते ही हैं किन्तु वे परस्पर बाधक [illegible] प्रतिबन्धक नहीं बन सकते।

[illegible]त्मा किसी दूसरे आत्मा के गुणों का प्रतिबन्धक इस [illegible] क्योंकि प्रत्येक आत्मा पृथक पृथक् स्वतन्त्र

है। तथा जबकि आत्माओं में ज्ञान, सुख आदि गुण हैं तब वे वैसे ही गुणों के प्रतिबन्धक भी कैसे हो सकते हैं। प्रतिबन्धक तो विजातीय पदार्थ ही होता है। जैसे प्रकाशमान सूर्य का प्रतिबन्धक अप्रकाशमान बादल, कोहरा, आंधी आदि। जल की शीतलता का प्रतिबन्धक अग्नि।

इसलिये सिद्ध होता है कि आत्मा के चैतन्य गुणों—ज्ञान दर्शन सुख आदि का ढकने या बिगाड़ने वाला प्रतिबन्धक कारण "अचेतन जड़" पदार्थ ही है और वह सदा आत्मा के साथ रहा है, एवं वह 'सूक्ष्म' भी है।

प्रतिबन्धक का नाम

आत्मा के गुणों को विकृत करने वाले इस प्रतिबन्धक कारण का नाम और स्वरूप विभिन्न दर्शनकारों, मत-प्रवर्तकों ने भिन्न भिन्न बतलाया है। वेदान्त इसे 'माया' कहता है, सांख्य ने उसको 'प्रकृति' नाम दिया है, किसी दर्शनकार (आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि) ने उसको संसारी आत्मा का 'सूक्ष्म शरीर' कहा है, यहूदी, ईसाई, इस्लाम मत में उसको 'शैतान' नाम दिया है। जैन दर्शन में उसको 'कर्म' कहा गया है। भाग्य की रेखा, कर्म का लेख आदि नाम भी इसी के रक्खे गये हैं।

यद्यपि इन नामों में परस्पर अन्तर है परन्तु आत्मा के गुणों को विकृत करना (बिगाड़ना), उन्हें आच्छादित करना (ढकना कम करना) रूप कार्य सभी दर्शनकारों ने प्रायः [illegible] माना है।

कर्म का निर्माण

'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं—कर्ता, करण, सम्प्रदान आदि कारकों में दूसरे कारक का नाम 'कर्म' है। क्रिया या कार्य के लिये भी कर्म शब्द का प्रयोग होता है जैसे अच्छे बुरे कर्म यानी अच्छी बुरी क्रियायें या अच्छे बुरे काम (सुकर्म, कुकर्म)। भाग्य के लिए भी कर्म शब्द को प्रयुक्त किया जाता है जैसे पुण्य या शुभ कर्म (सौभाग्य), पापकर्म या अशुभकर्म (दुर्भाग्य)।

यहां पर भाग्य-वाचक 'कर्म' शब्द पर विचार चल रहा है क्योंकि जीव के सांसारिक भ्रमण या जीव के गुणों को विकृत करने का सम्बन्ध इसी 'कर्म' से है।

कर्म का निर्माण नीचे लिखे ढंग से होता है।

पुद्गलीय (Matterial) स्कन्धो (परमाणुओं के समुदाय रूप वर्गणाओं) के २२ भेद हैं उन वर्गणाओ से विभिन्न प्रकार के दृश्यमान, अदृश्यमान (दिखाई देने वाले, न दिखाई देने वाले) पौद्गलिकः पार्थिव (मिट्टी, कोयला, लोहा, पत्थर आदि खनिज तथा अखनिज चीजें), जलीय (जल, ओले, बर्फ आदि), आग्नेय (बिजली, गैस, अगारा आदि अग्निमय) तथा वायव्य (वायु (वायु-सम्बन्धी) पदार्थ बना करते है।

उन बाईस प्रकार की वर्गणाओ में पांच प्रकार की वर्गणायें (आहार, भाषा, तैजस, मनोवर्गणा और कार्माण) जीव के ग्रहण में आया करती हैं। उन पांच वर्गणाओं मे जो कार्माण जाति की वर्गणाये हैं, कर्म उन वर्गणाओं से ही बनते है।

जैसे चुम्बक मे लोहे को अपनी ओर खींचने की (आकर्षण)

शक्ति है और लोहे में चुम्बक की ओर खिंचने की शक्ति होती है। उसी प्रकार आत्मा में 'योग' नामक आकर्षण शक्ति होती है और कार्माण वर्गणाओं में आत्मा की ओर खिंचने की शक्ति होती है।

जिस तरह सूक्ष्म तथा स्थूल अनन्त जीव जगत में सर्वत्र (सब जगह) विद्यमान हैं उसी तरह उनसे भी अनन्तगुणी कार्माण वर्गणायें भी जगत में सब जगह भरी हुई हैं।

जीव में प्रति समय काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, माया, राग, द्वेष, भय, शोक, घृणा आदि किसी न किसी प्रकार के भाव होते ही रहते हैं, उन भावों के कारण आत्मा के प्रदेश चञ्चल (कम्पायमान) हो उठते है, उस दशा में जीव की योगशक्ति अपने समीप की कार्माण वर्गणाओं को आकर्षित करके (कशिश करके खींचकर) अपने साथ मिला लेती है। जिस प्रकार गर्म हांडी को उलटा करके पानी के थाल में रख दिया जावे तो हांडी अपने चारों ओर के पानी को खींचकर अपने भीतर भर लेती है। कार्माण वर्गणाओं का इस प्रकार अपने साथ मिलाना ही 'कर्म' का निर्माण है। यानी ये मिलाई गई कार्माण वर्गणाये ही 'कर्म' कहलाती हैं।

जीव के अपने अच्छे बुरे विचारों, शब्दों (वचनों) या शारीरिक क्रिया के अनुसार उन कर्मों में अच्छा या बुरा प्रभाव उसी समय अंकित हो जाता है। जिस प्रकार ऊंचे मध्यम या मन्द स्वर से गाया हुआ गीत रिकार्ड में ज्यों का त्यों अंकित हो जाता है।

फोटो खींचने वाले कैमरे के लैन्स (आंख) पर जिस तरह सामने के पदार्थ का चित्र ज्यों का त्यों अंकित हो जाता है

तरह आत्मा के शुभ अशुभ विचार, वचन, तथा शारीरिक क्रिया का वैसा ही प्रभाव भी उन आकर्षित कार्माण वर्गणाओं पर अंकित हो जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त होने वाले इस पौद्गलिक कर्म को "द्रव्य कर्म" कहते हैं। आत्मा की शुभ अशुभ भावनाओं (क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष, घृणा, दया, क्षमा, उपकार आदि रूप) को, सत्य असत्य, मधुर कटु वचनों को तथा शुभ अशुभ रूप शारीरिक क्रिया को "भाव कर्म" कहते है। भाव कर्म के अनुसार द्रव्य कर्मों में प्रभाव अंकित होता है।

यह द्रव्य कर्मों का आवरण ही आत्मा या जीव का 'सूक्ष्म शरीर' कहलाता है। माया, प्रकृति, शैतान, भाग्य की रेखा आदि सब इसी के नाम है।

आत्मा अमूर्तिक है या मूर्तिक ?

पौद्गलिक (Matterial भौतिक) पदार्थों का संयोग (मिलना) पौद्गलिक पदार्थों के ही साथ होता है या हो सकता है। अमूर्तिक (Non matterial अभौतिक) पदार्थों के साथ (मूर्तिक) पौद्गलिक पदार्थों का सम्बन्ध (मिलना जुड़ना एकमेक होना) कभी नहीं होता। आकाश मे फूल नहीं होते, आकाश मे कोई भी पौद्गलिक (मैटीरियल) वस्तु चिपक नहीं सकती। फिर "अमूर्तिक (अभौतिक) आत्मा के साथ पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध किस प्रकार हो जाता है ?" यह प्रश्न विचारणीय है।

इस शंका का समाधान यह है कि—

आत्मा वास्तव मे अमूर्तिक होता हुआ भी सदा से

(अनादि समय से) मूर्तिक ही चला आ रहा है। एक क्षण भर भी वह कभी इस संसार में अमूर्तिक नहीं हो पाया। कर्मों का सूक्ष्म शरीर सदा उसके साथ लगा रहा है। इसी कारण संसारी आत्मा पर्याय दृष्टि से मूर्तिक कहा जाता है।

जिस तरह आकाश का, जगत का या ईश्वर का कोई आदि काल (शुरू होने का वक्त) नहीं है, वे अनादि काल से चले आ रहे हैं, उनमें 'कब से हुए' का प्रश्न पैदा नहीं होता, इसी तरह सूक्ष्म शरीर (कर्मों) से वेष्टित ससारी जीव के 'कब से मूर्तिक' होने का प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता।

अतः इस बात को प्रकारान्तर से यों कहा जा सकता है कि मूर्तिक कर्मों का संसारी मूर्तिक आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध हुआ करता है।

मूर्तिक की पकड़ में कैसे माना जावे ?

अमूर्तिक आत्मा को मूर्तिक कर्मों की पकड़ में किस प्रकार माना जावे ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि संसारी आत्मा भौतिक शरीर की पकड़ में तो प्रत्यक्ष दीख रहा है। हम चाहें कि अपने आत्मा को अपने इस स्थूल भौतिक शरीर की जेल से निकालकर कुछ समय के लिये बाहर ले जावें, जैसा कि रोग-पीड़ित व्यक्ति चाहते हैं; तो अपनी आत्मा को शरीर की कैद से नहीं छुटा सकता।

इस तरह संसारी आत्मा मूर्तिक शरीर की पकड़ में आ हुआ स्पष्ट दीख रहा है। इसी कारण स्थूल शरीर की आजीवन पड़ा रहता है और मृत्यु के अनन्तर उसे [illegible]

जाना पड़ता है। संसारी जीव क्षण भर भी विना शरीर के नहीं रह पाता तो इस जन्म मरण के कारणभूत पुद्गलीय (मूर्तिक) कर्म बन्धन (सूक्ष्म शरीर) के जाल में नियम से फंसा हुआ होना ही चाहिए।

भावकर्म द्रव्यकर्म

अनादिकाल से विकृत (अपने स्वभाव से हटकर विकारों का शिकार) होकर संसारी जीव अपने दूषित भावों (परिणामों) द्वारा कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण करके द्रव्यकर्म बनाता है और उस द्रव्यकर्म के प्रभाव से उसके आगामी भाव विकृत हुआ करते हैं। उन विकृत भावों (भावकर्मों) से फिर द्रव्यकर्म बनते हैं। इस तरह भावकर्म से द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण) बनते हैं और द्रव्यकर्म के प्रभाव से भावकर्म बना करते हैं।

जैसे जन्म और मरण की परम्परा संसार में अनादिकाल से चली आ रही है उसी तरह भावकर्म, द्रव्यकर्म की परम्परा भी अनादिकाल से चली आ रही है। प्रत्येक क्षण में कोई न कोई भावकर्म-कर्म बन्धन का मूल—विकृत भाव होता है और उसके निमित्त से नया द्रव्यकर्म बनता रहता है। पहले का द्रव्यकर्म जीव के भावों पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालकर झड़ता (अलग होता) रहता है। इस तरह भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की रचना सदा होती रहती है।

जैसे कोई अपथ्य सेवन (बद-परहेज) करने वाला मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध चीजे खाकर अपने लिए रोग उत्पन्न करता

द्रव्यकर्म की व्यवस्था स्पष्ट समझने के लिए द्रव्यकर्म चार भागों में बांटा गया है—१-प्रकृति, २-प्रदेश, ३-स्थिति, ४-अनुभाग।

ज्ञान दर्शन सुख बल आदि आत्मा के गुणों को आच्छादित करने (ढकने), विकृत करने रूप जो उन द्रव्य कर्मो में प्रकृति (स्वभाव) अंकित होता है वह "प्रकृति-बन्ध" कहा जाता है।

कार्माण वर्गणाओं का समस्त आत्मा के प्रदेशों के साथ दूध पानी के समान एकमेक होना "प्रदेश बन्ध" है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध, मन, वचन, शरीर की कार्य प्रणाली (योगों) के अनुसार होते हैं। यानी—जिस तरह के शुभ या अशुभ मानसिक विचार, वचन की प्रणाली या शारीरिक क्रिया होगी उसी के अनुरूप अच्छा या बुरा प्रभाव आकर्षित कार्माण वर्गणाओं मे अंकित होगा, कार्माण वर्गणाओं की आकर्षण-मात्रा उसी के अनुरूप होगी।

आत्मा के साथ संयुक्त रहने की जो काल मर्यादा उन आकर्षित कार्माणवर्गणाओं में अंकित होती है, उस काल मर्यादा को "स्थिति-बन्ध" कहते हैं।

कर्मरूप बनने वाली कार्माणवर्गणाओं मे जो तीव्र, मन्द मध्यम रूप शुभ या अशुभ फल देने रूप शक्ति होती है, वह "अनुभाग बन्ध" है। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध क्रोध आदि कषायों के अनुसार होते है। तीव्र कषायों से अशुभ कर्मों में स्थिति, अनुभाग की मात्रा अधिक होती है, शुभ कर्मों में थोड़ी होती है। मन्द कषायों से शुभ कर्मों में स्थिति और अनुभाग अधिक हो[illegible] है, अशुभ कर्मों में कम होता है।

इस प्रकार एक ही प्रकार के कर्मबन्धन में चार प्रकार की विशेषताऐं प्रगट होती हैं, अतएव उन ही विशेषताओं के अनुरूप कर्म-बन्ध के चार भेद किये गये हैं।

आस्रव और बन्ध में समय-भेद नहीं होता, एक ही समय दोनों कार्य होते हैं।

प्रकृति-बन्ध

कर्मों में आठ प्रकार की प्रकृतियां (स्वभाव) होती हैं, तदनुसार ही उनके नाम रक्खे गये हैं। १-ज्ञानावरण, २-दर्शनावरण, ३-वेदनीय, ४-मोहनीय, ५-आयु, ६-नाम, ७-गोत्र, और ८-अन्तराय।

ज्ञानावरण

आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण (ढकना-परदा) डालने वाला "ज्ञानावरण" कर्म है। प्रत्येक जीव मे भूत, भविष्यत, वर्तमान काल के जगत-वर्ती समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति है किन्तु ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से वह ज्ञान शक्ति छिपी रहती है। कपड़े के परदे में से जैसे भीतर की वस्तु अस्पष्ट, फीकी दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के परदे में से ज्ञान की ज्योति बहुत फीकी प्रगट होती है।

ज्ञानवान विद्वान का आदर न करना, पुस्तकों का अविनय करना, ज्ञान प्रचार के साधन बिगाड़ देना, न स्वयं ज्ञानाभ्यास करना, न दूसरों को करने देना; पढ़ने में विघ्न करना, अपने ज्ञान का अभिमान करना, अपना जाना हुआ विषय दुर्भावनावश [illegible]ों को न बताना, पुस्तके फाड़ देना, चुराना, विद्यालय बन्द [illegible] आदि ज्ञान रोकने वाले कार्य करने से ज्ञानावरण कर्म

है, उस रोग के कारण उसके मुख का स्वाद बिगड़ जाता है, उस से फिर अपथ्य सेवन कर बैठता है, उस अपथ्य-सेवन से फिर कोई नया रोग पैदा कर लेता है। इस तरह वह रोग से छुटकारा नहीं पाया करता।

रेशम का कीड़ा जिस तरह अपने ही मुख से रेशम का धागा निकाल कर अपने ऊपर लपेटकर अपने लिये कालकोठरी तैयार कर लेता है और उसी कालकोठरी में वह मर जाता है, इसी तरह संसारी जीव अपने भावों से द्रव्यकर्म बनाता रहता है, वही द्रव्यकर्म इसको ८४ लाख योनियों के जन्म मरण के चक्र में डाले रहता है।

भावकर्म

जिन दूषित भावों से संसारी जीव कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण करता है, वे विकृत भाव (भावकर्म) पांच प्रकार के है—१-असत्श्रद्धा (मिथ्यात्व), २-अविरति, ३-प्रमाद, ४-कषाय, और ५-योग।

आत्मा को आत्मरूप में श्रद्धान (विश्वास) न करना, शरीर को आत्मा समझना; सांसारिक पदार्थों से मोह करना, सत्यदेव शास्त्र, गुरु की श्रद्धा न करना आदि विपरीत विश्वास असत्श्रद्धा (मिथ्या दर्शन) है। इस असत्श्रद्धा के कारण जीव किसी पदार्थ को अच्छा, इष्ट, प्रिय, मित्ररूप मानकर उससे प्रेम करता है, उस के वियोग में दुख शोक करता है, रोता है, पछताता है। किसी पदार्थ को बुरा, अनिष्ट, अहितकारी, शत्रु मानकर उससे द्वेष करता है, घृणा करता है, क्रोध करता है, उसे नष्ट करने की चेष्टा करता है। यानी—एक असत्य श्रद्धा के कारण जीव [illegible]

भर के खोटे काम कर डालता है।

स्पर्शन इन्द्रिय (कामेन्द्रिय), जीभ, नाक, नेत्र और कान; इन पाचों इन्द्रियों का नियन्त्रण (कन्ट्रोल) न करके विषय भोगों में लगे रहना तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायु काय, वनस्पति काय (५ स्थावर एकेन्द्रिय जीव) एवं त्रसकाय (दो, तीन, चार, पांच इन्द्रिय जीव) इन छह काय वाले जीवों की रक्षा न करना 'अविरति' है।

आत्म-आराधन में आलस्य करना 'प्रमाद' है।

क्रोध, अभिमान, कपट आचार और लोभ करना, कामवासना करना, राग द्वेष करना आदि कषाय है।

मानसिक विचार, बोलना और शरीर से कोई भी कार्य करना 'योग' है।

इन पांचों (मिथ्या श्रद्धान, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग) भावों से कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण तथा उन आकर्षित कार्माण वर्गणाओ का आत्मा के साथ सम्मिश्रण होता है। अततः ये पांचों परिणाम 'भावकर्म' कहलाते हैं।

कार्माण वर्गणाओं के आकर्षण (कशिश करना) को आस्रव कहते हैं। तथा कार्माण वर्गणाओं का आत्मा के साथ दूध पानी के समान सम्मिश्रण होना (मिलना) 'बन्ध' कहलाता है।

द्रव्य कर्म

आत्मा के विकारी भावो (भावकर्मो) द्वारा जो कार्माण वर्गणाएं आकर्षित होकर आत्मा के समस्त प्रदेशों के साथ मिल [illegible] हैं, वह "द्रव्यकर्म" कहलाती हैं।

द्रव्यकर्म की व्यवस्था स्पष्ट समझने के लिए द्रव्यकर्म चार भागों में बांटा गया है—१-प्रकृति, २-प्रदेश, ३-स्थिति, ४-अनुभाग।

ज्ञान दर्शन सुख बल आदि आत्मा के गुणों को आच्छादित करने (ढकने), विकृत करने रूप जो उन द्रव्य कर्मों में प्रकृति (स्वभाव) अंकित होता है वह "प्रकृति-बन्ध" कहा जाता है।

कार्माण वर्गणाओं का समस्त आत्मा के प्रदेशों के साथ दूध पानी के समान एकमेक होना "प्रदेश बन्ध" है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध, मन, वचन, शरीर की कार्य प्रणाली (योगों) के अनुसार होते हैं। यानी—जिस तरह के शुभ या अशुभ मानसिक विचार, वचन की प्रणाली या शारीरिक क्रिया होगी उसी के अनुरूप अच्छा या बुरा प्रभाव आकर्षित कार्माण वर्गणाओं मे अंकित होगा, कार्माण वर्गणाओं की आकर्षण-मात्रा उसी के अनुरूप होगी।

आत्मा के साथ संयुक्त रहने की जो काल मर्यादा उन आकर्षित कार्माणवर्गणाओं में अंकित होती है, उस काल मर्यादा को "स्थिति-बन्ध" कहते हैं।

कर्मरूप बनने वाली कार्माणवर्गणाओ मे जो तीव्र, मन्द मध्यम रूप शुभ या अशुभ फल देने रूप शक्ति होती है, वह "अनुभाग बन्ध" है। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध क्रोध आदि कषायों के अनुसार होते है। तीव्र कषायों से अशुभ कर्मों में स्थिति, अनुभाग की मात्रा अधिक होती है, शुभ कर्मों मे थोड़ी होती है। मन्द कषायों से शुभ कर्मों में स्थिति और अनुभाग अधिक होता है, अशुभ कर्मों में कम होता है।

इस प्रकार एक ही प्रकार के कर्मबन्धन में चार प्रकार की विशेषताऐं प्रगट होती हैं, अतएव उन ही विशेषताओं के अनुरूप कर्म-बन्ध के चार भेद किये गये हैं।

आस्रव और बन्ध में समय-भेद नहीं होता, एक ही समय दोनों कार्य होते हैं।

प्रकृति-बन्ध

कर्मों में आठ प्रकार की प्रकृतियां (स्वभाव) होती हैं, तदनुसार ही उनके नाम रक्खे गये हैं। १-ज्ञानावरण, २-दर्शनावरण, ३-वेदनीय, ४-मोहनीय, ५-आयु, ६-नाम, ७-गोत्र, और ८-अन्तराय।

ज्ञानावरण

आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण (ढकना-परदा) डालने वाला "ज्ञाचावरण" कर्म है। प्रत्येक जीव में भूत, भविष्यत, वर्तमान काल के जगत-वर्ती समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति है किन्तु ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से वह ज्ञान शक्ति छिपी रहती है। कपड़े के परदे में से जैसे भीतर की वस्तु अस्पष्ट, फीकी दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के परदे में से ज्ञान की ज्योति बहुत फीकी प्रगट होती है।

ज्ञानवान विद्वान का आदर न करना, पुस्तको का अविनय करना, ज्ञान प्रचार के साधन बिगाड़ देना, न स्वयं ज्ञानाभ्यास करना, न दूसरों को करने देना; पढ़ने मे विघ्न करना, अपने ज्ञान का अभिमान करना, अपना जाना हुआ विषय दुर्भावनावश [illegible]ओं को न बताना, पुस्तकें फाड़ देना, चुराना, विद्यालय वन्द [illegible] आदि ज्ञान रोकने वाले कार्य करने से ज्ञानावरण कर्म

बनता है। इन कार्यों से उलटे यानी—ज्ञान प्रचार के कार्य करने से ज्ञानावरण कर्म निर्बल पड़ता है, ज्ञान की मात्रा अधिक प्रगट होती है।

दर्शनावरण

आत्मा के दर्शन (बाहरी पदार्थों के आकार ग्रहण से शून्य चैतन्य उपयोग) गुण पर आवरण डालने वाला "दर्शनावरण" कर्म है।

अन्य व्यक्ति के दर्शन उपयोग में विघ्न करना, अपने दर्शन गुण का अभिमान करना आदि दर्शन गुण को रोकने रूप कार्य करने से दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है। उनसे उलटे यानी दर्शन गुण को बढ़ाने वाले कार्य करने से दर्शन गुण का प्रकाश होता है।

वेदनीय

आत्मा को इन्द्रिय सुख अथवा दुख देने वाला कर्म वेदनीय है। जिस कर्म के प्रभाव से सुख मिलता है वह "साता वेदनीय" है, जो दुखदायक है वह "असाता" वेदनीय है।

दीन दुखी जीवों पर दया करना, सताये हुए प्राणियों की रक्षा करना, दान देना, दूसरों को सुख देना, परोपकार करना, दीन दरिद्रों की सेवा करना, साधु व्रतियों को आहार, शास्त्र आदि दान करना ऐसे शुभ कार्य करने से साता वेदनीय कर्म बन्धता है।

सबको दुख देना, दीन दुखी अनाथ असहायों को सताना, रोना, मारना, पीटना, आत्मघात करना, परघात करना आदि दुखदायक काम करने से "असाता" वेदनीय कर्म बन्धता है।

मोहनीय

जीव को आत्मस्वरूप की ओर से हटाकर सांसारिक पदार्थों में मोहित करने वाला 'मोहनीय' कर्म है।

अपने आत्मा के सिवाय जगत के शेष सभी चेतन, अचेतन पदार्थ अपने नहीं है, पराये है। मोही जीव उन अन्य पदार्थों में से किसी को इष्ट, मानकर उनसे (पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, घर आदि से) प्रेम करता है और किसी पदार्थ को अनिष्ट अप्रिय मानकर उससे घृणा द्वेष करता है। इसी मोहलीला से कामलीला, क्रोध, अभिमान, धोखाधड़ी, लोभ, भय, शोक आदि समस्त खोटे भाव उत्पन्न होते रहते है।

जैसे—शराबी मनुष्य को शराब के नशे में अपने पराये का ज्ञान नहीं रहता वैसे ही मोहनीय कम के प्रभाव से मोही जीव को अपने तथा अन्य पदार्थ का विवेक नहीं रहता।

संसार के जितने अनाचार दुराचार अत्याचार पाप होते हैं वे सब इस मोहनीय कर्म के प्रभाव से होते है। इस कारण वास्तव में ससार भ्रमण का या अन्य समस्त कर्म-बन्धन का मूल कारण यह मोहनीय कर्म है। मोही भाव ही 'भावकर्म' होते हैं।

अपने आत्मा का अनुभव न करना, सांसारिक कार्यों मे मग्न रहना, विषय भोगों में लिप्त रहना, काम क्रोध लोभ, माया, मत्सर द्वेष करना, सत्य देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा भक्ति न करना आदि कार्यों के करने से मोहनीय कर्म का बन्ध होता [illegible] यदि इन कार्यों से विपरीत वैराग्य-वर्द्धक कार्य किये जावें [illegible]नीय कर्म निर्बल होता है।

आयु

संसारी जीव को किसी भी (मनुष्य, देव, पशुयोनि, नारकी के) शरीर में नियत समय तक रोकने वाला कर्म 'आयु' है। जैसे जेल अधिकारी किसी जेल का दण्ड पाये हुए अपराधी को वन्दी-घर (जेलखाने) मे बन्द कर देता है उससे बाहर नहीं जाने देता, इसी तरह आयु कर्म भी जीव को शरीर की जेल मे रोक देता है।

व्रत, तप, संयम, दान आदि अधिक उत्तम कार्य करने से 'देव आयु' कर्म बंधता है। न अधिक शुभ कार्य और न अधिक पाप कार्य करने से 'मनुष्य आयु' बन्धती है। छल फरेब, कूट कपट करने से, मनुष्यता से नीची कोटि के काम करने से 'तिर्यञ्च' (पशु) आयु का बंध होता है। पापाचार, अत्याचार, अनाचार, दुराचार करने से 'नरक आयु' बंधती है।

नाम

संसारी आत्मा को रहने योग्य अच्छा या बुरा शरीर बनाना 'नाम' कर्म का कार्य है।

जैसे चित्रकार अपनी रुचि के अनुसार सुन्दर या असुन्दर (बदसूरत) चित्र बनाता है, उसी प्रकार पूर्वभव मे कमाया हुआ शुभ अशुभ नाम कर्म भी सुन्दर असुन्दर शरीर बनाता है।

अपनी सुन्दरता का अभिमान न करना, किसी अन्य जीव की सुन्दरता को न बिगाड़ना, किसी बदसूरत जीव का उपहास न करना आदि कार्य करने से 'शुभ नाम' कर्म बन्धता है। अप[illegible] सुन्दरता का अभिमान करना, दूसरो की सुन्दरता बिगाड़[illegible]

अन्य जीव की बदसूरती की हंसी उड़ाना, असुन्दर चित्र बनाना, कलह करना आदि कार्य करने से अशुभ नाम कर्म बन्धता है।

गोत्र

जो ऊंचे या नीच कुल में जन्म देने का कारण है वह 'गोत्र' कर्म है। पिता, बाबा, परबाबा (प्रपितामह) आदि पूर्व वंश-परम्परा से जिन कुलों का उच्चश्रेणी का आचरण होता है उन्हें उच्च कुल कहते हैं। जिन वंशों में पूर्व पिता परम्परा से नीच आचरण चला आता है वे 'नीच' कुल है।

उच्च गोत्र के उदय से उच्च कुलों में (इक्ष्वाकु, सूर्य, चन्द्र, यदु, हरि, कुरु, उग्र, नाथ आदि वंशों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातियों में जन्म होता है और नीच गोत्र के उदय से जीव नीच कुलों, नीच जातियों में उत्पन्न होता है।

अपने कुलवंश जाति आदि का अभिमान करने से, दूसरों से घृणा करने से, नीच कृत्य करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है। नम्रता तथा विनय से दूसरो के साथ वर्ताव करना, अपने कुल, जाति का अभिमान न करना, सदा उच्चकोटि के कार्य करना इत्यादि अच्छे कार्यों से उच्च गोत्र का बन्ध होता है।

अन्तराय

जो आत्मा के बल गुण का घात करता है, अनन्त बल प्रगट नहीं होने देता तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग में विघ्न करता है वह 'अन्तराय' कर्म है।

सामर्थ्य होते हुए भी आत्मा ज्ञानदान, अभयदान, आहार-औषधदान आदि न कर सके, प्रयत्न करने पर भी आध्या-

स्मिक तथा सांसारिक निधि की प्राप्ति न होने पावे एवं भोग्य (एक वार भोगने योग्य पदार्थ जैसे भोजन, तेल, उबटन आदि), उपभोग्य (अनेक वार भोगने में आ सकने वाली चीजें—जैसे मकान, वस्त्र, भूषण आदि) पदार्थों का भोग उपभोग न कर सके, ऐसी विघ्नकारक समस्याएं अन्तराय कर्म के प्रभाव से हुआ करती हैं।

दूसरे जीवों के दान, लाभ, भोग, उपभोग और बल बढ़ाने वाले कार्यों में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का वन्ध होता है।

घाती, अघाती कर्म

इन आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म 'घाती' कर्म हैं। क्योंकि ये क्रम से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और बल, इन चार अनुजीवी (आत्मा के सत्तात्मक, गुणों का घात करते हैं।

वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये चार 'अघाती कर्म' हैं, क्योंकि ये क्रम से आत्मा के अव्यावाध, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व अगुरुलघत्व, इन चार प्रतिजीवी (जो आत्मा के वास्तविक सत्ताभूत गुण न हों, कर्मों के अभाव हो जाने पर आत्मा में प्रगट होने वाली विशेषताओं के कारण माने जावें) गुणों का घात करते हैं।

प्रतिजीवी गुण वास्तविक आत्मीय गुण नहीं होते। जैसे, व्याकुलता न होना 'अव्यावाध' है। मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर अनन्त सुख प्रगट होता है, उस दशा में किसी भी प्रकार की व्याकुलता नहीं होती, अतः वेदनीय कर्म के अभाव से कोई अन्य वास्तविक गुण प्रगट नहीं होता।

प्रत्येक द्रव्य का अवगाहन (निवास) अपने प्रदेशों में स्वभावतः होता है तदनुसार आत्मा का अवगाहन भी सदा अपने प्रदेशों में ही रहता है। आयु कर्म के कारण आत्मा पौद्गलिक शरीर मे रहा करता है। आयु कर्म के अभाव हो जाने पर आत्मा में कोई नवीन गुण विकसित नहीं होता। अतः अवगाहन प्रतिजीवी गुण है, आयु कर्म के अभाव से माना गया है।

अमूर्तिक आत्मा मे न सूक्ष्मता (बारीकी) है, न स्थूलता (मोटापन) है, ये दोनों अवस्थाएं मूर्तिक पुद्गल द्रव्य की हैं। अतः नाम कर्म के नाश हो जाने से वास्तव में कोई गुण प्रगट नहीं होता, संसार की सशरीर अवस्था ही नष्ट होती है, इसी कारण आत्मा मे सूक्ष्मता का आविर्भाव कह दिया जाता है।

वास्तव मे आत्मा न गुरु (महान) है, न लघु (नीच-पतित) है। जैसे अन्य शुद्ध द्रव्य हैं, आत्मा वैसा ही है। अतः गोत्र कर्म के सद्भाव मे वह ऊंच नीच कुलों के सांसारिक व्यवहार से ऊंच नीच (गुरु लघु) कहलाता है, गोत्र कर्म नष्ट हो जाने पर उसमें वह व्यवहार नहीं होता। अतः उसमें अगुरुलघु गुण की कल्पना की जाती है। वास्तव मे गोत्र का क्षय हो जाने पर कोई नया गुण प्रगट नहीं होता। (आत्मा का सत्तात्मक अगुरुलघु गुण इस प्रतिजीवी अगुरुलघु गुण से भिन्न है।)

उत्तर प्रकृतियां

प्रकृति बन्ध के मूल आठ भेद है जो पीछे बतलाये हैं, उन ८ कर्मों के शाखा प्रतिशाखा रूप १४८ उत्तर भेद है। उनका [illegible] संक्षेप से यों है—

ज्ञानावरण के पांच भेद :—१ "मतिज्ञानावरण"—मतिज्ञान (पांच इन्द्रियों तथा मन के द्वारा होने वाले पदार्थों के ज्ञान) को ढकने वाला, २ "श्रुतज्ञानावरण"--श्रुतज्ञान (मतिज्ञान के आगे अन्य पदार्थ विषयक मानसिक ज्ञान) को आवरण करने वाला, ३-"अवधि ज्ञानावरण"—अवधिज्ञान (बिना इन्द्रियों तथा मन का अवलम्बन लेकर आत्मशक्ति से मूर्तिक पदार्थों को जानना) को ढांकनेवाला, ४—"मनपर्ययज्ञानावरण"—मनपर्ययज्ञान (बिना इन्द्रियों की सहायता लिये अन्य व्यक्ति के मन का विषय जान लेना) को आवरण करने वाला, ५-"केवलज्ञानावरण"—केवल ज्ञान (त्रिलोक के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ, सर्वथा स्पष्ट जानने वाला पूर्ण ज्ञान) को प्रगट न होने देनेवाला कर्म ।

दर्शनावरण के ६ भेद

१—"चक्षुदर्शनावरण"—चक्षुदर्शन (नेत्रों के द्वारा ज्ञान से पहले होने वाला निराकार उपयोग) को ढकने वाला, २—"अचक्षु-दर्शनावरण"—अचक्षुदर्शन (नेत्र के सिवाय अन्य इन्द्रियों के ज्ञान के पहले होने वाले निराकार प्रतिभास) को रोकनेवाला ३—"अवधिदर्शनावरण" :—अवधिदर्शन (अवधिज्ञान के पहले होने वाला निराकार उपयोग) को आवरण करने वाला, ४—"केवलदर्शनावरण" :—केवलदर्शन (केवल ज्ञान के साथ होने वाले निराकार उपयोग) को प्रगट न होने देने वाला, ५—"निद्रा" (जिसके उदय से नींद आती है), ६—"निद्रा-निद्रा" (जिसके उदय से नींद से जागने पर भी फिर नींद आ... गहरी नींद लानेवाला), ७—"प्रचला" (जिसके उदय से

ऊंघने लगे, कुछ सोता रहे, कुछ जागता भी रहे), ८—"प्रचला-प्रचला" (जिसके उदय से सोते समय मुख से लार बहती रहे, हाथ पैर चलते रहें), ९—"स्त्यानगृद्धि" (जिसके उदय से ऐसी खराब नींद आवे कि सोते-सोते अचेत अवस्था में ही दौड़ने, भागने लगे, अनेक कार्य कर डाले)। ये ९ भेद दर्शनावरण कर्म के हैं।

वेदनीय के २ भेद

१—"साता वेदनीय" (जिसके उदय से इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होता है), २—"असाता वेदनीय" (दुख पीड़ा देने वाला)। इस तरह वेदनीय कर्म के दो भेद हैं।

मोहनीय के २८ भेद

मोहनीय कर्म के मूल दो भेद है-१. "दर्शन मोहनीय" (आत्मा के श्रद्धान गुण को विकृत करने वाला), २. "चारित्र मोहनीय" (आत्मा के चारित्र गुण को विकृत करने वाला)।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद है—१. "मिथ्यात्व" (निज आत्मा, देव, गुरु, शास्त्र तथा आत्म-उपयोगी ७ तत्वों का विपरीत श्रद्धान कराने वाला), २. "सम्यक् मिथ्यात्व" (सत् तथा असत् श्रद्धा रूप मिश्रित भाव उत्पन्न करने वाला कर्म), ३. "सम्यक् प्रकृति" (सम्यग्दर्शन यानी-सत्श्रद्धान मे चल मल अगाढ़ दोष उत्पन्न करनेवाला कर्म)।

चारित्र मोहनीय के मूल दो भेद है—१. "कषाय", २—"नो-[illegible] कषाय के १६ भेद है—१. अनन्तानुबन्धी क्रोध" (पत्थर

की लकीर के समान बहुत समय तक रहने वाला), २. "अनन्तानुबन्धी मान" (पत्थर के समान न झुकनेवाला अभिमान), ३. "अनन्तानुबन्धी माया" (बांस की जड़ के समान बहुत गहरा उलझा हुआ छल कपट), ४. "अनन्तानुबन्धी लोभ" (मजीठ के रंग के समान न छूटने वाला लालच)। इस कषाय के उदय से स्वरूपाचरण चारित्र तथा सम्यग्दर्शन नहीं होता।

५. "अप्रत्याख्यानावरण क्रोध" (खेत मे पडी हुई लकीर के समान वर्षों तक रहनेवाला क्रोध), ६. "अप्रत्याख्यानावरण मान" (हड्डी के खम्भ समान कठिनाई से झुकनेवाला घमड), ७. "अप्रत्याख्यानावरण माया" (गाय के मूत्र की तरह टेढ़ापन रखनेवाला कपटाचार), ८ "अप्रत्याख्यानावरण लोभ" (मशीन की चीकट के समान गहरा लोभ)। इस कषाय के उदय से सम्यग्दर्शन हो सकता है किन्तु अणुव्रत (गृहस्थचारित्र) नहीं होने पाता।

९—"प्रत्याख्यानावरण क्रोध" (धूल मे गाड़ी के पहिये की बनी हुई लकीर के समान कुछ दिनों, महीनों तक टिकने वाला क्रोध) १०—"प्रत्याख्यानावरण मान" (लकड़ी के समान थोड़ी कठिनाई से झुकने वाला अभिमान) ११—प्रत्याख्यानावरणमाया" (मेंढे के सींग के समान थोड़ी टेढ़ रखने वाला कपट), १२—"प्रत्याख्यानावरण लोभ" (हल्दी के रंग के समान कुछ दिन ठहरने वाला लोभ)। यह कषाय अणुव्रत रूप गृहस्थ की ११ श्रेणियों (प्रतिमाओं) का आचरण हो लेने देती हैं किन्तु महाव्रत (मुनि आचार) नहीं होने देती।

१३—'संज्वलन क्रोध' (पानी में खिंची रेखा के समान मिट जाने वाला क्रोध), १४—'संज्वलन मान' (बेत के

झुक जाने वाला अभिमान), १५—'संज्वलन माया' (खुरपे के टेढ़ेपन के समान थोड़ा सा कपट) और १६—'संज्वलन लोभ' (कसूम के हवाई रंग के समान बहुत शीघ्र मिट जाने वाला लोभ)। इस कषाय के उदय से महाव्रत हो सकते हैं, किन्तु यथाख्यात चारित्र नहीं होने पाता।

नोकषाय (किंचित्—थोड़ी कषाय) के ९ भेद है। १—हास्य (जिसके उदय से हंसी आती है), २—'रति' (जिसके उदय से सांसारिक पदार्थों से राग-प्रीति होती है), ३—'अरति' (जिसके उदय से किसी के साथ अप्रीति-द्वेष भाव उत्पन्न होता है), ४—'शोक' (जिसके निमित्त से शोक, रंज होता है, ५—'भय' (जिसके उदय से डर लगता है), ६—'जुगुप्सा' (जिसके उदय से अनिष्ट पदार्थों से घृणा होती है), ७— 'स्त्री वेद' (जिसके उदय से पुरुष के साथ कामक्रीड़ा करने के स्त्रियों के-से भाव हों), ८—'पुंवेद' (जिसके उदय से स्त्रियों के साथ रति क्रीड़ा करने के, पुरुषों की तरह भाव हों) और ९—'नपुंसक वेद' (स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों के साथ काम-क्रीड़ा करने के हीजड़ों के-से भाव जिसके उदय से हों)। इस तरह दर्शन मोहनीय ३+१६ कषाय+९ नोकषाय=२८ भेद मोहनीय कर्म के है।

आयु के ४ भेद

१—'मनुष्य आयु' (मनुष्य के शरीर मे रोकने वाला), २—[illegible]आयु' (देवों के शरीर में रोकने वाला कर्म), ३—'तिर्यञ्च [illegible]योनिमे रोकने वाला) और ४—'नरक आयु' (नारकीय [illegible] वाला कर्म)।

आयु कर्म का वन्ध जीवन में एक वार होता है, वन्ध हो जाने पर उसमें फिर परिवर्तन नहीं होता। स्थिति और अनुभाग में कमी वेशी होती रहती है।

आयु कर्म के सिवाय शेष ७ कर्म सदा वन्धते रहते हैं।

नाम कर्म के ९३ भेद

४—'गति' (मनुष्य, देव, तिर्यञ्च, नरक—यह कर्म मरने के वाद जीव को अन्य योनि में ले जाता है और वहाँ पर उस पर्याय के अनुरूप किये रहता है), ५--'जाति' (एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय—इस कर्म के उदय से अपनी जाति के अनुरूप शारीरिक परिणमन होता है), ५—'शरीर' (१—'औदारिक' मनुष्य, पशुओं का शरीर, २—वैक्रियिक शरीर—(अनेक प्रकार आकार वना सकने वाला देव नारकियों का शरीर), ३—'आहारक शरीर' (ऋद्धिधारक मुनियों की शंका मिटाने के लिये आहारक वर्गणाओं द्वारा मस्तक से निकले हुए आत्म-प्रदेशों से सहित केवली, श्रुत केवली के पास जाने वाला मनुष्याकार एक हाथ ऊंचा शरीर)।

४—'तैजस शरीर' औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर में गर्मी तथा तेज रखने वाला शरीर, ५—कार्माण शरीर कर्मों का समुदाय रूप सूक्ष्म शरीर। 'तैजस कार्माण शरीर' संसार-अवस्था-में प्रत्येक जीव के सदा होते हैं। ३—'अंगोपांग':—(१) औदारि[illegible] २—वैक्रियिक, ३—आहारक। इस कर्म उदय से हाथ, पैर, शिर आदि अंग और उंगलियां, नाक, कान, आंख, उपांग वनते हैं। अंग-उपांग पहले तीन शरीरों [illegible]

अपेक्षा से अंगोपांग के तीन भेद है। २—'निर्माण' १—स्थान
निर्माण (शरीर मे यथास्थान अंगउपांगों की रचना करने वाला
कर्म), २—'प्रमाण निर्माण' (प्रमाण यानी-नाप के अनुसार अंग
उपांग बनाने वाला कर्म)। ५—'बन्धन'—१ औदारिक, २ वैक्रि-
यिक, ३ आहारक, ४ तैजस, ५ कार्माण (इसके उदय से पांचो
प्रकार के शरीरो की वर्गणाओ का परस्पर मे मिलाप होकर शरीर
रचना होती है), ५ 'संघात'—१ औदारिक, २ वैक्रियिक, ३ आहा-
रक ४ तैजस, ५ कार्माण (इस कर्म के उदय से पांचो शरीरो की
वर्गणाएं बिना किसी छिद्र के परस्पर मिल कर शरीर बनाती हैं),
६ संस्थान—१—'समचतुरस्र' (शरीर के समस्त भाग ठीक नाप
से बनाने वाला कर्म, २—'न्यग्रोध परिमण्डल' (जिसके उदय
मे नाभि के ऊपर का भाग लम्बा और नीचे का छोटे आकार का
बने), ३ 'स्वाति' (जिसके उदय से नाभि के नीचे का भाग ऊपरी
धड़ की अपेक्षा अधिक बड़ा हो), ४—'कुब्जक' (जिसके उदय
से शरीर कुबड़ा होता है। ५—'वामन' (जिसके उदय से शरीर
बौना होता है)। ६—'हुण्डक' (जिसके उदय से शरीर बेडौल हो,
उसका कोई भाग बड़ा हो, कोई छोटा हो)। 'संहनन' जिसके उदय
से औदारिक शरीर मे हड्डियो का बन्धन होता है, यह ६ प्रकार
का है—(१) 'वज्रऋषभनाराच सहनन'-जिसके उदय से शरीर की
हड्डियां, हड्डियों के जोड़ और उनमे लगी हुई कीली वज्र के समान
दृढ़ हो। २—'वज्रनाराच' जिसके उदय से हड्डियां और उनकी
कीलें वज्र के समान दृढ़ हों, उनके जोड़ उतने दृढ़ न हो। ३ 'नाराच'
हुयो मे वज्र सरीखी दृढ़ता न हो किन्तु हड्डियों के जोड़ों मे पूरी
ले हों। ४ 'अर्द्ध नाराच' जिसके उदय से हड्डियो के जोड़ आधे
[illegible] हो। ५—'कीलक' जिसके उदय से हड्डियों के जोड़ कीलों
[illegible] यानी-कीलें जोड़ो के भीतर न हो। ६—असंप्राप्तासृ-

पाटिका संहनन— जिसके उदय से हड्डियां सर्प के शरीर की हड्डियों की तरह बिना जोड़की हो, नसों से बन्धी हों। ८—'स्पर्श' जिसके उदय से शरीर मे स्पर्श (छुआई) हो, उसके ८ भेद हैं १ १ शीत, २ उष्ण, ३ रूखा, ४ चिकना, ५ कड़ा, ६ नर्म, ७ हलका, ८ भारी। ५—'रस' जिसके उदय से शरीर मे रस हो, इसके ५ भेद है—१ खट्टा, २ मीठा, ३ कड़वा ४ कषायला, ५ चर्परा। २ 'गंध' जिसके उदय से शरीर मे गन्ध (बू) हो, गन्ध के २ भेद हैं। सुगन्ध दुर्गंध।

५— 'वर्ण' जिसके उदय से शरीर मे रंग होता है, इसके पांच भेद हैं—लाल, पीला, नीला, काला, सफेद। ४— 'आनुपूर्व्य, —(इसके उदय से मरण के अनन्तर अन्य नवीन शरीर ग्रहण करने के लिये अन्य योनि मे जाते समय मार्ग मे आत्मा का आकार पहले छोड़े हुए शरीर के आकार का होता है। यह चार प्रकार का है १—मनुष्य, २—देव, ३—तिर्यञ्च, ४—नारकी 'अगुरुलघु' (जिसके उदय से शरीर न ऐसा हल्का हो जो रुई की तरह उड़ता फिरे, न ऐसा भारी हो कि लोहे की तरह जहां का तहां पड़ा रहे। 'उपघात'—जिसके उदय से अपने आपको घात करने वाले अंगोपांग हों। 'परघात'—जिसके उदय से अन्य जीवों को घात करने वाले सींग, दांत, नाखून आदि अंगोपांग हो। 'आतप'—जिसके उदय से उष्ण प्रभावाला शरीर हो। 'उद्योत,—जिसके उदय से शीतप्रभा वाला शरीर हो। 'श्वास उच्छ्वास'—जिसके उदय से श्वास उश्वास लेवे। 'विहायोगति' जिसके उदय से गमन कर सके, इसके दो भेद है। १—'प्रशस्त' सुन्दर गमन। २—'अप्रशस्त' (खराब चाल)। 'प्रत्येक'— उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो।

जिसके उदय से एक शरीर का स्वामी अनेक जीव हों। 'त्रस'—जिसके उदय से दोइन्द्रियादिक त्रस शरीर प्राप्त हो। 'स्थावर'—जिसके उदय से एकेन्द्रिय वाला शरीर मिले। 'सुभग'—जिसके उदय से ऐसा शरीर मिले जो दूसरे को प्रिय लगे। 'दुर्भग,—जिसके उदय से दूसरों को अप्रिय लगने वाला शरीर प्राप्त हो। 'सुस्वर'—जिसके उदय से स्वर (बोली) मीठा हो, जैसे कोयल का। 'दुःस्वर'—जिसके उदय से स्वर अच्छा न हो। 'शुभ'—जिसके उदय से शरीर सुन्दर हो। 'अशुभ'—जिसके उदय से शरीर असुन्दर (बदसूरत) हो। 'सूक्ष्म'—जिसके उदय से शरीर ऐसा हो जो न दूसरे पदार्थ से रुके और न दूसरे को रोके। 'बादर'—जिसके उदय से दूसरे पदार्थ से रुकने वाला तथा दूसरे को रुकावट डालने वाला शरीर हो। 'पर्याप्त'—जिसके उदय से शरीर की सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण हों। 'अपर्याप्त'—जिसके उदय से शरीर की पर्याप्तियां पूर्ण न हो सके, पूर्ण होने से पहले ही मरण हो जावे। 'स्थिर'—जिसके उदय से शरीर के रस रक्त आदि धातु उपधातु स्थिर रहे। 'अस्थिर'—जिसके उदय से शरीर की धातु उपधातु स्थिर न रहे। 'आदेय'—जिसके उदय से शरीर पर प्रभा कान्ति हो। 'अनादेय'—जिसके उदय से शरीर पर प्रभा-कान्ति न हो। 'यशःकीर्ति'—जिसके उदय से ससार मे यश फैले। 'अयशःकीर्ति'—जिसके उदय से संसार मे अपयश (बदनामी) फैले। 'तीर्थंकर'—जिसके उदय से गर्भ, जन्म, तप, केवल ज्ञान और मोक्ष कल्याणकों वाला तीर्थंकर हो। विदेहक्षेत्र में पूर्वभव मे बाँधी हुई तीर्थंकर प्रकृति के अनुसार ५ कल्याणक होते और उसी भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले गृहस्थ के तीन तथा मुनि के दो कल्याणक भी होते हैं।

समस्त कर्म प्रकृतियों में सबसे उत्तम शुभ प्रकृति 'तीर्थंकर' है,

२ गोत्र कर्म

गोत्र कर्म के 'उच्च' और 'नीच' ये दो भेद बतला चुके हैं।

अन्तराय ५

१—'दानान्तराय' जिसके उदय से जीव सामर्थ्य होने पर भी दान न कर सके। २—'लाभान्तराय'—जिसके उदय से सफलता न मिल सके विविध प्रकार के लाभ न हों ३—'भोगान्तराय'—जिससे भोग्य पदार्थों का भोग न कर सके, ४—'उपभोगान्तराय'—जिसके प्रभाव से उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न कर सके। ५—'वीर्यान्तराय' जिसके उदय से शक्ति की पूर्णता न हो, आत्मबल तथा शरीर बल में कमी रहे।

स्थिति बन्ध

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की सबसे अधिक स्थिति (आत्मा के साथ रहने का समय) तीस कोड़ा-कोड़ी (करोड़ × करोड़ = कोड़ाकोड़ी) सागर (समुद्र में पानी की बूंदों की तरह यानी असंख्यातवर्ष का एक सागर है। ७० कोड़ा कोड़ी दर्शन मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति है। चारित्र मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ४० कोड़ा कोड़ी सागर है। नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर है। तथा आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर है।

मनुष्य, तिर्यञ्च, देव आयु के सिवाय शेष सब कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति यथासंभव तीव्र कषाय भावों से बंधती है उन तीनों आयु कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति यथासंभव मन्द भावों से बन्धती हैं।

तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग तथा देवायु की उत्कृष्ट स्थिति सम्यग्दृष्टि जीव के ही बन्धती है। शेष कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि (असत्श्रद्धालु) बांधता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्म की जघन्य (सबसे कम) स्थिति अन्तर्मुहूर्त (मुहूर्त-४८ मिनट से कम) है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त(९ घटे)है।

आवाधा

जिस प्रकार दाल बनाने के लिए पहले बटलोई में जल गर्म किया जाता है। जब पानी अच्छा गर्म हो जाता है, तब उसमें दाल डाली जाती है। पहले वह दाल बटलोई की तली मे बैठ जाती है, कुछ देर पीछे जब वह गर्म हो जाती है तब तली में से ऊपर उठ कर उबलने लगती है। उसी प्रकार कार्माण वर्गणाएं आत्मा के प्रदेशो के साथ सम्बद्ध हो जाते ही उदय मे नहीं आतीं, कुछ समय बीत जाने पर वे अपना फल देना प्रारम्भ करती है।

जितनी देर तक सम्बद्ध कर्मवर्गणाएं उदय नहीं होतीं उतने समय को "आवाधा" काल कहते हैं। जिस कर्म की स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागर हो वह नियम से एक सौ वर्ष पीछे अपना फल देना (उदय होना) प्रारम्भ करता है। इसी गणित से शेष सभी स्थिति वाले कर्मों का "आवाधाकाल" समझ लेना चाहिए।

आयुकर्म का आवाधा काल भुज्यमान (उदय में आये हुए) आयुकर्म के शेष समय मात्र है। यानी—दूसरे भव की बांधी हुई आयु वर्तमान भव की आयु समाप्त होने पर उदय में आया है।

अनुभाग बन्ध

बांधी हुई कर्मवर्गणाओं में जो आत्मा को फल देने की शक्ति होती है उसे "अनुभाग बन्ध" कहते हैं।

ज्ञानावरण की पांचो प्रकृतियां, दर्शनावरण की ९, मोहनीय की २८, अन्तराय की ५, असाता वेदनीय, नरक आयु, नीच गोत्र तथा नामकर्म की ५० प्रकृतियां अशुभ हैं। उनका फल अशुभ-दुखदायक होता है। नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय आदि ४ जाति, समचतुरस्र के सिवाय ५ संस्थान, वज्र ऋषभ नाराच के सिवाय ५ संहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गंध, ५ वर्ण, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, साधारण, अशुभ, दुर्भग, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, दुःस्वर, अनादेय, अस्थिर और अशयःकीर्ति ये नामकर्म की ५० प्रकृतियां अशुभ हैं।

साता वेदनीय, मनुष्य, देव, तिर्यंच आयु (एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंच स्वय मरना नहीं चाहते, अतः यह आयु भी शुभ मानी गई है), ऊंचगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेंद्रियजाति, ५ शरीर, बंधन ५, संघात ५, अङ्गोपांग ३, २ निर्माण, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभ नाराच संहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गंध, ५ वर्ण, अगुरुलघु, परघात, आतप, उद्योत, श्वासोच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, बादर, प्रत्येक, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशकीर्ति, तीर्थंकर; ये ६८ प्रकृतियां शुभ हैं। संसार की अपेक्षा सुखदायक हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के

शुभ प्रकृतियों का रस, गुड़, खांड, मिश्री और अमृत के समान उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुखदायक है। यानी—जैसे गुड़ कम मीठा होता है, खांड उससे अधिक मीठी होती है, मिश्री उससे अधिक मीठी होती है, अमृत उन सब से अधिक मीठा होता है। इसी तरह शुभ प्रकृतियों का अनुभाग अधिक अधिक सुखदायक होता है।

अशुभ प्रकृतियों में रस नीम, कांजी, विष और हालाहल के समान उत्तरोत्तर अधिक अधिक अनिष्ट दुखदायक होता है।

ध्यान देने योग्य बात

जिन क्रोध, मान, मायाचार, लोभ, राग, द्वेष, भय, घृणा, शोक आदि भावों से कर्मों मे रस पड़ा करता है, वे भाव शुभ भी हो सकते हैं और अशुभ भी हो सकते हैं। जैसे यदि कोई वीर पुरुष किसी दुष्ट व्यक्ति के अत्याचार (दुखी दीन अनाथ को अकारण सताना, अबलाओं का सतीत्व नष्ट करना, धर्म मन्दिरों का अपमान करना आदि) को देखकर उस अत्याचार को मिटाने के क्रोध करता है, अध्यापक या माता पिता बच्चो मे कोई बुरी बात देख कर उसको सुधारने के लिये क्रोध करते है तो वह क्रोध शुभ है, उस क्रोध से शुभ कर्म का बन्ध होगा। क्रोध यदि बुरी बात को करने के लिये (लूटने, झपटने, अकारण किसी को मारने पीटने, कत्ल करने, बलात्कार करने आदि के लिये) किया जावे तो वह क्रोध अशुभ है उससे दुखदायक अशुभकर्म का बन्ध होगा।

दूसरे का अपमान करने के लिये अभिमान किया जावे तो बुरा है यदि अपना उचित पद स्थिर रखने के लिये (अपने

आपको दूसरे की अनुचित चापलूसी से बचाकर अपना पद गिरने न देने के लिये) स्वाभिमान किया जाता है, वह शुभ है।

मायाचार किसी को हानि पहुँचाने के लिये किया जावे तो अशुभ है, उससे अशुभ कर्मों का बन्ध होगा, धर्म रक्षा, जीव रक्षा, किसी के सुधार आदि शुभ भावना से किया गया छल (जैसे कि विष्णुकुमार मुनि ने बौने ब्राह्मण का रूप बना कर श्री अकम्पनाचार्य के ७०० मुनियों के संघ की रक्षा के अभिप्राय से बलि मंत्री से कपट किया था) शुभ है। अपने स्वार्थ के लिये, दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये लोभ करना बुरा है। पर-उपकार धर्म प्रचार, देश-रक्षा, ज्ञान-प्रचार, आत्म-शुद्धि के अभिप्राय मे लोभ करना, धन के अपव्यय को बचाने रूप लोभ अच्छा है।

दुराचारियों से प्रेम करना बुरा है, सदाचारियों, साधुओं से, दीन दुखियों से प्रेम करना अच्छा है। बुरी बातों से, दुराचार से घृणा करना अच्छा है, दीन, दुखी दरिद्री, गुणीजनों से घृणा करना बुरा है। बुरे काय करने से भय करना अच्छा है, धर्मरक्षा, जीव-रक्षा, आदि शुभ कार्यों के लिये किसी विपत्ति उठाने के लिये डरना अशुभ है।

इस कारण शुभ कषाय भावों (क्रोध आदि) से शुभ यानी सुखदायक कर्मों का बन्ध होता है, शुभ कर्मों में रस पड़ता है और अशुभ कषायों से अशुभ कर्मों में अनुभाग पड़ता है।

जैसी तीव्र कषाय होगी, कर्मों मे रस (फल देने की शक्ति) उतना ही तीव्र होगा। यदि कषाय मन्द होगी तो कर्मों में अनुभाग भी मन्द होगा।

प्रदेश-बन्ध

संसारी मूर्तिक आत्मा तथा आकर्षित कार्माण वर्गणाओं का परस्पर एकमेक सम्बन्ध (मिश्रण) होना "प्रदेश-बन्ध" है, वास्तव में बन्ध तो "प्रदेश-बन्ध" ही है, उसी प्रदेश-बन्ध में विद्यमान विशेषताओ को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग-बन्ध कहा गया है।

संसारी जीव मे प्रतिसमय (प्रतिक्षण) मन के विचारो से या या वचन व्यवहार से अथवा शरीर द्वारा कोई क्रिया करने से जो हलन चलन (प्रदेश परिस्पन्द) होती है, उस से वह अपने निकट-वर्ती कार्माणजाति के अनन्त परमाणुओं के समुदाय रूप कार्माण वर्गणाओं को आकर्षित करके अपने साथ मिलाता रहता है। प्रति-समय बंधनेवाली कार्माण वर्गणाओं को "समयप्रबद्ध" कहते है।

प्रतिसमय जिस तरह एक "समयप्रबद्ध" बन्धता है, उसी प्रकार प्रतिसमय एक समय-प्रबद्ध (निषेक) अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है ऐसा क्रम चालू रहते हुए भी अन्त मे डेढ़गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध शेष रहजाता है। इसका सारांश यह है कि जितना कर्म प्रतिसमय बन्धता है उस से कुछ कम कर्म प्रतिसमय उदय आकर आत्मा से अलग होता रहता है।

बंटवारा

प्रतिसमय जो कर्मवर्गणाओं का बन्ध होता है, उस समय-द्ध का निम्नलिखित रूप से भिन्न-भिन्न प्रकृतियों मे बंटवारा हो

वेदनीयकर्म को सब से अधिक भाग मिलता है अर्थात् कर्म की आठ प्रकृतियों में से वेदनीय कर्म में अन्य ७ कर्मों की अपेक्षा अधिक कार्माण वर्गणाएं सम्मिलित होती है। इसका कारण यह है कि सुख दुख रूप से वेदनीय कर्म की निर्जरा अन्य सब कर्मों की अपेक्षा अधिक है। इस तरह वेदनीय कर्म का प्रतिसमय निर्जरा रूप जब अधिक खर्च होता है तो बन्ध रूप उसकी आमदनी अन्य कर्मों की अपेक्षा अधिक होनी ही चाहिये।

उससे कम कार्माणद्रव्य मोहनीय कर्म को प्राप्त होता है। मोहनीय कर्म से कम कार्माण वर्गणाएँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तराय रूप परिणत होती है। तीनों को समान कार्माण वर्गणाएँ मिलती हैं।

ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय से कम कार्माणद्रव्य नाम और गोत्र कर्मों को प्राप्त होता है, दोनों का समान भाग होता है।

नाम-गोत्र से भी कम कार्माण अंश आयुकर्म के भाग में आता है। इस तरह सब से अधिक वेदनीय कर्म को और सब से कम आयु कर्म को कार्माण द्रव्य समयप्रबद्ध में से मिलता है।

आयु कर्म का बन्ध

प्रति समय सोते जागते, चलते फिरते, उठते बैठते आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों का बन्ध हुआ करता है। आयु कर्म का बन्ध नियत समय और नियत अवस्था में ही होता है। वह समय और अवस्था जब प्राप्त हो जाती है, तब उस अवस्था अनुसार चारों आयुओं में से एक आयु का बन्ध हो जा

बन्ध हो जाने के पश्चात् बन्धा हुआ आयु कर्म फिर बदलता
नहीं। उसकी स्थिति और अनुभाग मे घटा बढ़ी हो सकती है।

आयु कर्म का बन्ध हो जाने पर उसको समय प्रबद्ध का प्रति
समय सबसे अल्प भाग मिलने लगता है। आयु कर्म की निर्जरा
दूसरे भव के प्रारम्भ समय से होने लगती है।

आयु कर्म के बन्धने का समय जीवन मे आठ बार आ
सकता है। उनमे से किसी भी समय आयु कर्म का बन्ध हो
सकता है। कदाचित् उन आठो अवसरो पर आयु का बन्ध न
हो सके तो आयु के अन्त मे अवश्य नवीन आयु का बन्ध हो
ही जाता है। उन आठ समयो को 'अपकर्ष काल' कहते हैं।

अपकर्ष काल का नियम इस तरह है—भुज्यमान आयु का
जब दो तिहाई (⅔) समय समाप्त हो जाता है तब आयु कर्म के बंध
का पहला अपकर्ष काल आता है। यदि उस समय आयुकर्म बन्ध
गया तब तो ठीक, यदि उस समय न बन्ध सका तो शेष तिहाई
आयु मे से दो तिहाई समय बीत जाने पर दूसरा अपकर्ष काल
आता है, उस समय आयु कर्म बन्ध हो जाता है, यदि उस समय
भी बन्ध न हुआ तो शेष आयु के समय मे से दो तिहाई (⅔) समय
बीत जाने पर तीसरा अपकर्ष काल आता है, उस समय भी बन्ध
न हुआ तो फिर शेष आयु मे से दो तिहाई समय बीत जाने पर
चौथा अपकर्ष काल आता है। इस तरह शेष आयु के समय मे
दो दो तिहाई समय बीत जाने पर आठ बार आयुकर्म बन्धने
योग्य अपकर्ष काल आते हैं।

किसी मनुष्य की आयु २१८७ वर्ष की हो तो १४५८
के आयुबन्ध का पहला अपकर्ष काल आवेगा।

दूसरा अपकर्षकाल शेष आयु (७२६ वर्ष) के दो तिहाई समय बीत जाने पर (४८६ वें वर्ष) आवेगा। इसी तरह शेष आयु में से दो दो तिहाई समय बीतने पर क्रम से तीसरा, चौथा, पाँचवाँ छठा, सातवां तथा आठवां अपकर्षकाल आवेगा।

जब आठवें अपकर्ष काल में भी आयुबन्ध न हो सका तो आयु के अन्तिम समय अन्य भव की आयु का बन्ध अवश्य हो जावेगा।

देव और नारकियों की आयु बन्धने का पहला अपकर्षकाल आयु के ६ मास शेष रह जाने पर आता है। दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, सातवां और आठवां अपकर्षकाल इसी ६ मास में से दो दो तिहाई समय बीत जाने पर क्रमशः आता जाता है।

आयु बन्ध न होने का कारण

कर्म का बन्ध लेश्या (कषाय—सहित योग—प्रवृत्ति यानी—मन वचन शरीर का व्यवहार) से हुआ करता है। लेश्या (भावलेश्या) कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल नामक ६ भेद वाली है। कृष्ण लेश्या के परिणाम सबसे निकृष्ट (नीच) होते हैं। उससे उत्तरोत्तर अच्छे परिणाम क्रम से नील, कापोत आदि लेश्याओं के होते हैं।

इन ६ लेश्याओं में भी प्रत्येक के उत्तम, मध्यम, जघन्य रूप तीन तीन श्रेणियां होती हैं, इस तरह लेश्याओं के १८ होजाते हैं,। उन १८ प्रकार के लेश्या-स्थानों में कुछ ऐसे हैं जिनमें किसी भी आयु के बंधने योग्य परिणाम

ऐसे उच्च श्रेणी के भी परिणाम होते है कि देवायु से भी ऊंची श्रेणी की आयु बंध सकती है, ऐसी निकृष्ट श्रेणी के भी परिणामों के स्थान इन लेश्याओं मे होते हैं कि नरक मे भी नीचे की दुखदायक आयु बंध सकती है किन्तु वैसे उच्च कोटि और निम्न श्रेणी के स्थान न होने के कारण अपकर्ष काल में यदि वैसे लेश्या भाव होंगे तो आयु का बन्ध नहीं होगा।

मध्य में भी लेश्याओं के कुछ स्थान आयुबन्ध के योग्य नहीं होते, अतः अपकर्ष कालों मे उन लेश्याओं के होने पर आयु कर्म का बन्ध नहीं होने पाता। इस कारण जब आयु-बन्ध के योग्य परिणाम होते है तब ही आयु कर्म बधता है।

अकाल–मृत्यु

जिस जीव ने जिस योनि की जितनी आयु बान्धी हो, उतने समय तक जीव को उस भव मे रहना पड़ता है। परन्तु मनुष्य तथा पशु योनि में इस नियम का भंग भी होजाता है।

कभी कभी ऐसे प्राणघातक(जलने, डूबने, गिरने, शस्त्रघात, विषभक्षण, रक्तक्षय, असह्य पीड़ा, प्लेग आदि रोग) अवसर या कारण आ जाते हैं कि मनुष्यों या पशुओं की अस्वाभाविक-रूप से मृत्यु हो जाती है। जैसे नौका डूब जाने, कूंए मे गिर जाने, मकान में दब जाने, युद्ध में तलवार बन्दूक आदि का घात हो जाने इत्यादि कारणों से स्वस्थ बलवान व्यक्ति अचानक मर जाते है। ऐसे अवसरों पर आयु कर्म क्रमशः [illegible]नी स्थिति पूर्ण नहीं कर पाता, तत्काल उसकी स्थिति समाप्त [illegible]ती है। इस कारण वह काल-मृत्यु न हो कर अकालमृत्यु

जिस तरह तीन दीपक जल रहे हैं, एक मे तेल बहुत भरा हुआ है बत्ती भी है, दूसरे मे आधा तेल जल चुका है बत्ती भी आधी रह गई है, तीसरे दीपक मे तेल और बत्ती समाप्त हो चुकी हैं। उस समय ऐसी प्रबल आँधी आई कि तीनों दीपक गिरकर बुझ गये। यदि वह आँधी नहीं आती तो दो दीपक कुछ समय तक और जलते रहते।

तेल वाले उन दीपकों के समान ही मनुष्य (तीर्थंकर, भोगभूमिजके सिवाय) तथा पशु प्राणघातक कारण उपस्थित हो जाने पर आयु समाप्त होने से पहले ही मर जाते हैं।

नाथूराम गोडसे यदि गोली न मारता तो महात्मा मोहनदास करमचन्द गाँधी जी ३० जनवरी सन् १६४८ को न मरते क्योंकि उस समय उनका स्वास्थ्य ठीक था, मरण के योग्य उनका शरीर नहीं था। यदि वायुयान (हवाई जहाज) जल कर पृथ्वी पर न गिरता तो श्री सुभाषचन्द्र बोस की मृत्यु न होती क्योंकि उस समय उनका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा बलवान था। हिरोशिमा और नागासाकी मे अमेरिका के अणुबम न गिरते तो वहाँ के नरनारी तत्काल एक साथ न मर जाते।

यदि भूकम्प मे विहार प्रान्त का मुंगेरनगर और बिलोचिस्तान का कोटा नगर ध्वस्त न होता तो वहाँ के हजारों नरनारी बच्चे.पशु तत्काल न मर जाते।

इससे प्रमाणित होता है कि आयु समाप्त होने से भी पहले अकाल-मृत्यु हो सकती है।

जिसका आयुकर्म निकाचित, या निधत्ति रूप से [illegible] वह भयानक प्राणघातक अवसरों पर भी अकाल [illegible]

जाता है। जिसकी आयु निधत्ति निकाचित रूप में न हो वह मनुष्य या पशु अकालमृत्यु का ग्रास बन सकता है।

अकाल-मृत्यु का निर्णय

जिस तरह अनेक स्वस्थ बलवान मनुष्य बैठे बैठे या कोई काम करते हुए भी बिना किसी घातक कारण (HEART FAIL) से स्वयं मर जाते हैं इसी तरह यह भी संभव होसकता है कि गाँधी जी, सुभाषचन्द्र बोस तथा हिरोशिमा नागासीका(जापान देश के नगर) मुंगेर, क्वेटा आदि के मरने वाले लाखों नर नारियो की आयु उसी समय समाप्त हो गई हो और पिस्तौल की गोली, हवाई दुर्घटना, अणुबम, भूकम्प (क्रमसे) का बहाना बन गया हो।

परन्तु इस सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषय का निर्णय त्रिकाल-ज्ञाता सर्वज्ञ ही कर सकता है। हम सरीखे आधुनिक अल्पज्ञ व्यक्ति इस वास्तविक बात को यथार्थ नहीं जान सकते। इस कारण हम तो अपने अनुमान से उसे अकाल-मृत्यु ही कहेंगे।

कर्म का उदय

अपने मोह, ममता, राग-द्वेष, क्रोध, लोभ, काम, कपट आदि भावों से जीव जब कर्म-बन्ध कर लेता है। तब कर्म कुछ समय आत्मा के साथ सम्बद्ध रहकर उदय आने योग्य बनता रहता है। कर्म की जितनी स्थिति (आत्मा के साथ रह कर फल की सीमा) होती है उसी के अनुसार कुछ समय उदय

आने योग्य परिस्थिति बनने में लगता है जिसे कि 'आबाधा काल' कहते हैं। इसके विषय में पीछे लिखा जा चुका है। संक्षेप में यहां इतना ही समझलें कि एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाला कर्म एक सौ १०० वर्ष पीछे उदय (फल देने) होने योग्य बन पाता है यानी—उस कर्म का फल सौ वर्ष पीछे मिलना प्रारम्भ होगा और वह १०० वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर तक अपनी प्रकृति, अनुभाग के अनुसार अच्छा या बुरा, तीव्र मन्द या मध्यम अपना फल देता रहेगा।

उस १०० वर्ष के प्रारम्भिक समय में वह कर्म एक कोड़ी-कोड़ी सागर तक उदय आते रहने योग्य बनता रहता है। तदनन्तर उस योग्यता के अनुसार प्रति समय वह कर्म उदय में आना प्रारम्भ होना है। एक समय में जितना कर्म उदय में आता है, उसे निषेक कहते हैं। एक एक निषेक (कर्म का अंश) एक समय में अपनी योग्यता के अनुसार फल देकर आत्मा से अलग होता रहता है।

जिस तरह चोरी, हत्या आदि अपराध करने में पकड़ा हुआ मनुष्य तत्काल दण्ड (सजा) नहीं भुगतने लगता। पहले कुछ समय तक न्यायालय (कोर्ट) में उसके अपराध पर न्यायाधीश विचार करता है फिर उसके अपराध के अनुसार दण्ड देने का निर्णय करता है। तब जेल में उसे दण्ड मिलना प्रारम्भ होता है।

इसी तरह कर्म की कोर्ट में स्वयं जीव को उसकी करनी का दण्ड देने के लिये कुछ समय तक विधि बनती है, तदनन्तर उस विधि के अनुसार जीव को उस कर्म का फल मिलना प्रारम्भ होता है।

इसी कारण अपनी अपनी स्थिति के अनुसार आ[illegible] बिताकर कोई कर्म ७०० वर्ष पीछे, कोई १०० [illegible]

१०-२० वर्ष बाद और कोई महीनों, दिनों, घण्टों बाद अपना फल देना प्रारम्भ करता है।

पापी सुखी क्यों दिखाई देते हैं ?

बहुत से मनुष्य जन्म भर पाप करते हुए भी सुखी रहते हैं। और कुछ मनुष्य धर्म करते हुए, सदाचार से रहते हुए भी जन्म भर दुखी रहते हैं, इसका कारण यही है कि उन दोनो के द्वारा बांधे हुए वर्तमान कर्मों की स्थिति इतनी अधिक पड़ी है कि उस कर्म की आबाधा उस जन्म में समाप्त न हो पावेगी, अतः उनको उनके इन बुरे अच्छे कर्मों का फल दूसरे भव मे मिलेगा।

कुछ मनुष्यों को अपने कर्मों का अच्छा या बुरा फल उसी जन्म मे या कुछ समय पीछे ही मिलने लगता है उसका भी यही कारण है कि उनके कर्म की स्थिति थोड़ी होती है, इसलिए वह थोड़े आबाधाकाल के बाद उदय मे आ जाता है।

इसी तरह बहुत से मनुष्य जो सज्जन होते हैं, किसी दूसरे जीव को रंचमात्र भी हानि नहीं पहुँचाते फिर भी वे जन्म भर दुखी रहते हैं और बहुत से मनुष्यों ने जन्म भर स्वार्थ-साधन के सिवाय कोई भी दान, परोपकार आदि शुभ कार्य नहीं किया किन्तु फिर भी वे सब तरह से सुखी रहे। उसका अभिप्राय भी यह है कि पूर्व जन्म में बांधा हुआ अशुभ कर्म उन सज्जन पुरुषों को दुख दे रहा है, उनकी सज्जनता का फल उन्हे आगामी समय मे या दूसरे भव मे मिलेगा। तथा स्वार्थी, परोपकार—शून्य, कंजूस ... पूर्व जन्म के संचित पुण्य कर्म का फल यहां भोग रहे हैं। ... समय मे उन्हे अपनी कंजसी का फल भोगना पड़ेगा।

जन्म लेते ही कोई व्यक्ति स्वस्थ सुखी रहते हैं, कोई व्यक्ति जन्म से ही रोगी दुखी रहते हैं, यह नाटक इस जन्म का तो है नहीं, पूर्व भव की शुभ अशुभ करनी का ही दृश्य (नाटक) है।

जड़ कर्म फल कैसे देते हैं ?

न्यायाधीश (जज) तो बुद्धिमान चेतन प्राणी है इस कारण अभियोक्ता (मुदई) और अभियुक्त (मुद्दालय) के तथा साक्षियों (गवाहों) के बयान सुनकर किसी को अपराधी (कुसूरवार) ठहराकर उचित जुर्माना या जेल आदि का दण्ड देता है, जिसको निरपराध समझता है उसे छोड़ देता है। किन्तु कर्म पौद्‌गलिक जड पदार्थ है, उन्हें जीव को सुख दुख देने का स्वयं कुछ ज्ञान नहीं है, तब वे जीव को सुख दुख रूप दण्ड कैसे देते हैं ?

यह एक शका है जोकि कर्म सिद्धान्त के विषय में हुआ करती है। इसका समाधान यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा अधूरी जानकारी से या अज्ञानता अथवा पक्षपात-वश गलतियां हो जाया करती हैं जिससे कि अनेक अपराधी चोर, डाकू, बदमाश साफ छूट भी जाया करते हैं और अनेक निरपराध व्यक्ति दण्ड पा जाते हैं। किन्तु ज्ञानशून्य जड़ पदार्थों से ऐसी गलतियां रंचमात्र भी और कभी भी नहीं होतीं।

एक वैज्ञानिक तो अपने रासायनिक (कैमीकल) मिश्रण में गलती करके किसी रसायन को गलत बना सकता है, परन्तु जड़ रसायन पदार्थों से ऐसी गलती कदापि नहीं होती, वे तो अपने स्वभाव और शक्ति के अनुरूप ही ठीक मात्रा में कार्य करते हैं।

वर्फ, बिजली आदि आकाश में भी स्वयं भौतिक पदा

संयोग से बना करती है, और मनुष्य भी उसी प्रकार के भौतिक पदार्थों का मिलाप करके यहां कृत्रिम बर्फ, बिजली बनाता है। अब आप दोनों में अंतर देख लीजिये। मनुष्य तो अपनी क्रिया में भूल करके उनका उत्पादन गलत भी कर सकता है परन्तु आकाश में बादलों के पारस्परिक टकराने से उत्पन्न होने वाली बिजली में अथवा आकाश से गिरने वाली वर्फ में ऐसी कोई गलती नहीं हो सकती, वहां तो उसे जैसा जल वायु का संयोग मिलेगा ठीक, उसी मात्रा में वैसी ही बर्फ बनकर पृथ्वी पर गिरेगी।

इसी तरह नदी समुद्रों से पानी का भाप बनकर आकाश में उड़ना, वहां बादलों का बनना, फिर मानसून (वर्षाती वायु) चलने पर उनका जल, ओला, बिजली आदि के रूप में बनकर पृथ्वी पर गिरना, पृथ्वी के गर्भ में रासायनिक (कैमीकल) मिश्रण के सिद्धान्त से कहीं लोहा, कहीं सोना, चांदी, तांबा, अभ्रख आदि बनना, कहीं कोयला, गन्धक आदि बनना, समुद्र के गर्भ में अनेक प्रकार के पदार्थों का उत्पादन विविध पदार्थों के परस्पर मिश्रण होने पर स्वय ठीक मात्रा में हो रहा है।

इस तरह जड़ पदार्थ अपनी शक्ति के अनुरूप सदा ठीक कार्य किया करते हैं। उसी अपनी स्वाभाविक शक्ति के अनुरूप वे जीव पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। भंग, अफीम, शराब आदि जड़ पदार्थ जीव को नशा लाते हैं, दूध, घी आदि पदार्थ पाचन शक्ति के अनुसार शरीर का पोषण करते हैं, विष आदि शरीर का शोषण करते है, दिमाग को खराब कर देते है। मनुष्य अपने खाने पीने [illegible] भूल से गड़बड़ कर सकता है परन्तु खाये जाने वाले जड़ [illegible] अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य करने में रंचमात्र भी गड़बड़

जड़ पदार्थों की नियत शक्तियों के अनुसार पोषण, शोषण मारण आदि के लिये असंख्य प्रकार की औषधियां तैयार होती हैं।

इसी प्रकार कार्माण वर्गणाएं भी जितनी मात्रा में जैसे योग और कषायों की परिस्थिति में आकर्षण करके कर्म रूप में सम्बद्ध की जाती है उसी के अनुरूप वे जीव को प्रभावित करके सुख दुख देने का साधन बना करती हैं। आत्मा को अपनी शक्ति और स्वभाव (प्रकृति अनुभाग) के अनुसार प्रभावित करके (असर डाल कर) आत्मा की बुद्धि तथा क्रिया को ऐसी परिस्थितियों में प्रेरित कर देती हैं (डाल देती है) जिससे आत्मा अपने लिये सुख दुखदायक कार्य स्वयं कर बैठता है।

जीव अन्य योनि मे किस तरह जाता है

जिस तरह नदी पार करने के लिये नाव का सहारा लिया जाता है, नाव में बैठ कर नदी पार की जाती है, किन्तु नाव में बैठ जाने मात्र से नदी के दूसरे पार नहीं पहुँचा जा सकता, नाव को जब पतवार द्वारा अपने हाथों से मल्लाह खेता है तब नाव उसे दूसरे किनारे पर पहुँचाती है।

इसी प्रकार एक शरीर छोड़ देने (मरने) के पश्चात् इस जीव को बांधे हुए आयु स्थान पर गति कर्म ले जाता है। गतिकर्म स्वयं नहीं चलता, जाता उस स्थान को यह जीव है किन्तु उसी नियत स्थान की ओर जाने की प्रेरणा गतिकर्म करता है। नाव को चलाने का काम जैसे मल्लाह करता है उसी तरह जीव को अन्य योनि में ले जाने का काम गतिकर्म करता है, नाव का काम वह योनि मे जाने वाला जीव करता है। गतिकर्म प्रेरक

वाला-उधर ले जाने वाला) वनता है, जाने वाला जीव होता है।

जहाँ जन्म लेना होता है वह स्थान (गर्भाशय) उस जीव के लिये आकर्षण (खिचने-कशिश होने) होने का केन्द्र होता है, वह जीव आकर्ष्य (उस ओर खिचने वाला) होता है।

इन सब साधनों द्वारा पर-वश होकर जीव अन्य जन्म-स्थान मे प्रवेश किया करता है।

गति कर्म का बन्ध

गतिकर्म नामकर्म के अन्तर्गत प्रकृति है, अतः अन्य कर्मों के अनुसार गतिकर्म का भी बन्ध प्रतिसमय हुआ करता है। जब शुभ परिणाम होते हैं तब मनुष्य गति का बन्ध हो जाता है, शुभ-तर परिणामों के समय देवगति का बन्ध हो जाता है, अशुभ परिणामो के समय तिर्यंच गति का बन्ध और अशुभतर परिणामो के होने पर नरक गति का बन्ध हो जाता है।

नई गति का बन्ध हो जाने पर पहले की बान्धी हुई गति नई गति के रूप मे पलट जाती है। इस तरह गतिकर्म का परिवर्तन प्रतिसमय होता रहता है। परन्तु जब आयु कर्म का बन्ध हो जाता है तब आयु कर्म के अनुसार ही (उसी तरह की) मनुष्य, देव आदि गति कर्म का बन्ध स्थायी वन जाता है, फिर उसमें परि-वर्तन नहीं होता।

करने में स्वतन्त्र, भोगने में परतन्त्र

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

ज्ञानी—तू कर्म करने में स्वतन्त्र है, फल भोगने मे स्वतन्त्र

बीज बोने के समय किसान और माली स्वतन्त्र है, किसान चाहे तो चने का बीज बो सकता है और उसकी इच्छा हो तो वह गेहूँ बो सकता है। इसी तरह माली चाहे तो आम का बीज बो सकता है और यदि वह चाहे तो कांटेदार कीकर (बबूल) का बीज बो सकता है, तब तक उसको पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, परन्तु बीज बो देने के पश्चात् वह स्वतन्त्र नहीं रहता, वह फिर अपने बोए हुए बीज के अधीन हो जाता है।

गेहूं का बीज बो देने के बाद किसान यदि चने की फसल काटना चाहे या माली कीकर का बीज बोकर आम के फल तोड़ना चाहे तो उस समय उसकी इच्छानुसार काम नहीं हो सकता, किसान को तो गेहूं की फसल प्राप्त होगी और माली को बबूल के ही कांटे और उसकी फलियां मिलेंगी जिनको पशु ही खा सकते हैं।

भोजन करने के समय तो मनुष्य स्वतत्र रहता है कि वह जिस किसी पदार्थ को भी खाकर अपनी भूख मिटा सकता है, वह चाहे तो सात्विक पौष्टिक पदार्थ खाकर अपने शरीर का पोषण कर सकता है और यदि वह अपनी लोलुपता--जीभ की लोलुपता बुझाने के लिये शरीर को हानि-कारक चटपटे या मिष्टान्न खाना चाहे तो उन्हें भी खा सकता है। उस समय यदि वह चाहे तो विष या विष—जैसे हानिकारक पदार्थ भी खा सकता है और यदि वह चाहे तो उपलब्ध अमृत या अमृत-समान स्वास्थ्यकारक चीजों को खाकर भी तृप्ति कर सकता है।

परन्तु भोजन को गले के नीचे उतार लेने के पश्चात् वह परतंत्र बन जाता है, उसके बाद उसकी बदली हुई इच्छा का प्रभाव, किये हुए भोजन के ऊपर कुछ नहीं पड़ सकता। अब विष खाकर वह यदि न मरना चाहे तो ऐसा हो नहीं सकता

खाया हुआ संखिया तो उसे मृत्यु के घाट अवश्य पहुंचा देगा।

इसी प्रकार संसारी जीव (संज्ञी पंचेन्द्रिय) कर्म बांधते समय प्राय: स्वतंत्र रहते है। वे चाहें तो दुखदायिनी परिस्थिति में भी शान्ति, सन्तोष, धैर्य धारण करके शुभ कर्मों का बन्ध कर सकते हैं। क्षमा, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, भगवान की उपासना, स्वाध्याय, परोपकार, अहिंसा, दया भाव आदि सुखदायक परिणामों से सुखदायक कर्मो का उपार्जन कर सकते हैं और चाहे तो क्रोध, अभिमान, छल, असत्य, व्यभिचार, बलात्कार, चोरी, डकैती, हत्या आदि दुष्ट काम करके दुखदायक अशुभ कर्मों का बन्ध कर सकते है।

परन्तु जब वह कर्मों का बन्ध कर लेंगे तब वह परतंत्र हो जावेंगे फिर तो उन्हें अपने उपार्जन किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। उस समय पापकर्मों का सुखदायी शुभ फल चाहने पर भी उनको नहीं मिल सकता।

तीन चेतनाएँ

चैतन्य गुणमय होने के कारण आत्मा (जीव) को चेतन कहा जाता है। ज्ञान,दर्शन, चैतन्य गुण के भेद हैं। ज्ञान दर्शन गुण की क्रिया को 'चेतना' कहते हैं।

ससारी जीवों मे ज्ञान दर्शन के विकास क्रम के अनुसार चेतना के तीन भेद किये गये है १. कर्म फल चेतना, २ कर्म चेतना, और ३ ज्ञान चेतना।

एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक तिर्यंच जीव मन (शिक्षा, क्रिया, आलाप ग्रहण करने की योग्यता का साधन) न होने के कारण आत्मीय हित अहित का विचार नहीं कर सकते। उनको

जैसा पूर्व संचित कर्मों का फल मिलता है उसे ही भोगते रहते हैं, उस कर्म-फल भोगने के समय जैसे भी उनके कलुषित या शान्त परिणाम होते हैं उसी के अनुरूप उनके आगामी कर्मबन्ध होता रहता है। इस कारण उनके चेतना (ज्ञान दर्शन के परिणमन) को 'कर्मफल चेतना' कहा जाता है।

हित अहित का विवेक ज्ञान रखने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु, मनुष्य आदि प्राणी कर्मों का शुभ या अशुभ फल प्राप्त होते समय अपनी उन्नति के लिये कुछ प्रयत्न (कर्म) कर सकते हैं और यथासंभव करते ही हैं, अतः उनकी चेतना 'कर्म चेतना' कही गई है।

जिन विवेकशील जीवों को दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने से आत्म-अनुभूति (अनुभव) होने लगता है, अन्य पदार्थों से आत्मा को पृथक मानने की श्रद्धा प्रकट हो जाती है, अतः उनकी ज्ञान-ज्योति उनके अन्तरंग को जगमगाने लगती है, इसी कारण उनका सांसारिक मोह शिथिल हो जाता है आत्म-रुचि जाग्रत हो जाती है, राग-द्वेष एवं शत्रु-मित्र की भावना मद पड़ जाती है, उन जीवों के 'ज्ञान चेतना' कही जाती है। यानी--वास्तव में आत्म-हित करने वाला ज्ञान उन का ही होता है।

ज्ञान चेतना वाले जीवों का कर्मबन्ध (स्थिति अनुभाग) थोड़ा होता है। अशुभतर अशुभतम कर्म उनके नहीं बनते, प्रायः शुभ कर्मों का ही बन्ध होता है, इसके सिवाय पूर्वसंचित कर्म उनके अधिक मात्रा में उनके आत्मा से नष्ट होते जाते है। यानी--[illegible] समय उनका कर्मभार हलका होता जाता है।

कर्म चेतना वाले जीव यदि शुभ काम करते है तो उन्हें अस्थायी सांसारिक सुख देने वाले शुभ कर्मों का बन्ध होता है यदि उनकी दुष्ट प्रवृत्ति होती है तो वे नारकीय दुख भोगने योग्य अशुभ कर्म भी उपार्जन कर लेते है।

कर्मफल चेतनावाले जीव हित अहित के ज्ञान से शून्य होते हैं अतः उनके कर्मबन्ध उनकी परिस्थिति से अनुसार प्रायः अशुभ ही हुआ करता है। कदाचित शान्त परिणाम हो जावे तो ऊपर की श्रेणी मे पहुँचने-योग्य कर्मों का बन्ध भी उनके हा जाता है।

कर्म-फल ईश्वर नहीं देता।

अनेक दर्शनो (वैष्णव, शैव, आर्य समाज, ईसाई, यहूदी, इस्लाम आदि) की मान्यता है कि "ईश्वर (जिसको विभिन्न भाषाओं मे खुदा, गोड (God) आदि भी कहते हैं) इस समस्त जगत् का नियन्ता (नियन्त्रण-कन्ट्रोल करने वाला) है, वह सर्वज्ञ (त्रिकाल त्रिलोक का जानकार), परम दयालु, सर्व-शक्ति-सम्पन्न, न्यायी, निरञ्जन, निर्विकार, पूर्ण, कृतकृत्य है, वही संसार को भी बनाता है और कभी उसे समूल नष्ट भ्रष्ट भी कर देता है। वही सर्वोच्च न्यायाधीश के समान समस्त जीवो को उनके कर्मों का सुख दुख, देना, विविध योनियों में भेजना आदि दण्ड देता है, उसकी इच्छा के बिना पेड़ का पत्ता तक नहीं हिलता।"

उनकी मान्यता यदि तर्क-संगत होती तो हम भी उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते, किन्तु युक्तियाँ उनकी मान्यता को अंश-मात्र भी नहीं ठहरने देतीं। विचारिये—

१—यह जड़ चेतन पदार्थ-मय विशाल जगत स्वयं-सिद्ध है, अनन्त है, यह बात वैज्ञानिक युक्तियों से प्रमाणित होती है,

इस विषय पर हम प्रारम्भ में संक्षेप से प्रकाश डाल आये हैं। तदनुसार ईश्वर जगत का निर्माता (बनाने वाला) तथा प्रलय-कर्त्ता प्रमाणित नहीं होता।

२—जब ईश्वर कृतकृत्य पूर्ण है, निरञ्जन निर्विकार है तो उस में जगत बनाने तथा बिगाड़ने, कर्मफल देने के लिये किसी को नरक भेजने, किसी को स्वर्ग पहुँचाने, किसी को चोरी करवाने किसी को लुटवाने, किसी को बलात्कार (सती स्त्रियों का बल-पूर्वक सतीत्व नष्ट) कराने, किसी को निर्दयता से कत्ल करवाने, किसी को अग्नि में जलाने, किसी को जल में डुबा देने आदि कार्य करने की रागद्वेष आदि विकार-मय इच्छाएं नहीं हो सकतीं। इच्छाएं (ख्वाहिशें) सदा अपूर्ण, विकृत स्वभाव वाले जीवों में हुआ करती हैं।

३—ईश्वर कर्मफल देने स्वयं तो (अशरीर होने से) आता नहीं, वह तो पुलिस या जेलर के समान चोर, डाकू, लुटेरे, शिकारी, हत्यारे, कसाई, गुण्डे, बदमाश, व्यभिचारी, अत्याचारी, अनाचारी, दुष्ट, लम्पट आदि व्यक्तियों के द्वारा किसी की चोरी करा देने, किसी को लुटवा देने, किसी को कत्ल करा देने, किसी को अपमानित करा देने, किसी महिला पर बलात्कार करा देने आदि रूप दण्ड दिलाया करता है। ऐसी दशा में वे चोरी, डाकू, हत्यारे, कसाई, व्यभिचारी आदि व्यक्ति निर्दोष प्रमाणित होंगे क्योंकि वे तो चोरी, लूट, हत्या, व्यभिचार आदि जीवों को उन के कर्मों का फल देने के लिये ईश्वर की प्रेरणा (संकेत इशारा) मिलने पर ही करते हैं। जैसे जज के आदेश-अनुसार कै[illegible] को सजा देने वाला जेला-धिकारी अपराधी नहीं माना जा[illegible]

४—ईश्वर जब सर्वज्ञ है तब वह पाप करने वाले जीवों के पाप-कार्यों को करने से पहले ही जान लेता है, तो वह पाप करने से पहले ही उन्हें क्यों नहीं रोक देता ? क्योंकि वह सर्व-शक्तिमान है, अतः तत्काल पापियों को पाप करने से वह रोक सकता है। यह कहां का ईश्वरीय न्याय है कि वह जगत्पिता होकर जानता बूझता हुआ भी पहले तो जीवों को पाप कर लेने देता है फिर उनको नारकीय पीड़ाएं दिलाता है ? दयालु न्याया-धीश का यह कार्य नहीं है।

५—जब ईश्वर की इच्छा के बिना पेड़ का पत्ता भी नहीं हिलता तब संसार का कोई भी जीव स्वतंत्रता से कोई कार्य नहीं कर सकता। तो "जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, किन्तु फल भोगने में वह परतंत्र है।" यह सिद्धांत नहीं बनता। सभी काम ईश्वर की इच्छा-अनुसार होते हैं ऐसा मानना पड़ेगा। उस दशा में संसार का कोई भी जीव पापी, दुराचारी, अत्याचारी अपराधी नहीं कहा जासकता।

६—कर्मों का फल देने वाला यदि ईश्वर होता तो सुख दुख रूप दंड देते समय वह संसारी जीवों को अवश्य बतलाता कि तुमको यह दण्ड अमुक अपराध के लिये दिया जा रहा है। जैसे—न्यायाधीश (जज) दण्ड देते समय अपराधियों को बतलाता है। कर्मों का फल मिलते समय किसी भी जीव को अपने-पहले किये हुए अपराध के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो पाता, इससे सिद्ध होता है कि कर्म का फल अन्य कोई चेतन शक्ति नहीं देती।

७—यदि जीवों को कर्मों का फल देने वाला सर्व-शक्ति-मान् ईश्वर होता तो संसार मे कहीं भी कोई पाप,

अत्याचार न होता, अपनी शक्ति से वह सब बुरे कामों को रोक कर सब जगह शांति स्थापित कर देता। कहीं सती अबलाओं का बलात्कार से सतीत्व नष्ट हो रहा है, कहीं निरपराध मनुष्य पशु पक्षी निर्दयता से मारे जा रहे हैं, कहीं चोरी डकैती लूट खसोट हो रही है, कहीं अन्याय से दीन जनता पिसी जारही है। ये सब बातें दयालु न्यायकारी, सर्वशक्तिमान परमात्मा की देख रेख और प्रबन्ध तथा शासन में कैसे होरही हैं?

उपर्युक्त तर्कों से सिद्ध होता है कि कर्मों का फल ईश्वर नहीं देता।

कर्म की दश दशाएँ

योग और कषाय के द्वारा आकर्षित और आत्मा से सम्बद्ध कर्म वर्गणाओं (कर्मों) की १० दशाएँ होती हैं:—

१. बन्ध, २. सत्व, ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उपशान्त, ६. उत्कर्षण, ७ अपकर्षण, ८ संक्रमण, ९ निधत्ति और १०. निकाचित।

कार्माण वर्गणाओं का आत्म प्रदेशों के साथ दूध पानी के समान एकमेक होना 'बन्ध' है। बान्धा हुआ कर्म जब तक आत्मा के साथ बना रहता है तब तक कर्म की 'सत्व' (सत्ता) दशा कही जाती है। यथासमय आत्मा को अपना फल देने-रूप कर्म का प्रगट होना 'उदय' है। जैसे वृक्ष से तोड़े हुए कच्चे आम को भुस में दबाकर शीघ्र पका लिया जाता है, इसी प्रकार समय से पहले कर्म को उदय में ले आना 'उदीरणा' है। कुछ समय तक कर्म को उदय या उदीरणा में न आने देना 'उपशात' है। बांधे

स्थिति और अनुभाग का बढ़ जाना 'उत्कर्षण' है। बांधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग का घट जाना 'अपकर्षण' है। बांधी हुई कर्म प्रकृति का अन्य प्रकृति रूप पलट जाना 'संक्रमण' है। जिस कर्म की उदीरणा और संक्रमण न हो सके वह 'निघत्ति' है और जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण तथा अपकर्षण न हो सके यानी—जो यथासमय बांधी हुई स्थिति तथा अनुभाग के अनुसार अवश्य फल दे, वह 'निकाचित' कर्म है।

संक्रमण ज्ञानावरण आदि ८ मूल कर्म प्रकृतियों में नहीं होता, न आयु कर्म की चारों उत्तर प्रकृतियों में होता है तथा दर्शन और चारित्र मोहनीय में भी परस्पर संक्रमण नहीं होता। शेष समस्त कर्म प्रकृतियों मे संक्रमण हो सकता है।

इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि मूल कर्म बदलकर एक दूसरे रूप नहीं हो सकते। न बांधी हुई एक आयु पलटकर दूसरी किसी आयु रूप हो सकती है। तथा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म भी पलट कर एक दूसरे रूप नहीं हो सकते। शेष सब कर्म प्रकृतियां पलट सकती हैं। जैसे 'साता वेदनीय' कर्म बान्धा हो तो पाप कार्यों द्वारा उसे 'असाता वेदनीय' रूप में किया जा सकता है और इसी तरह शुभ कार्यों द्वारा पहले के बांधे हुए असाता वेदनीय कर्म को साता वेदनीय के रूप में परिणत किया जा सकता है।

कर्म का पराक्रम

शराब पीने वाला मनुष्य अपनी इच्छा से शराब पीता पी लेने के पश्चात् न चाहते हुए भी उसको शराब के [illegible]त (वेहोश) होकर अपनी दुर्दशा उठानी पड़ती है।

इसी प्रकार कर्म-बन्ध करते समय जीव प्रायः स्वतन्त्रता से अच्छे बुरे कार्य करता है, परन्तु कर्म बन जाने के पश्चात् उसको अनिच्छा से (न चाहते हुए) भी उसका फल भोगना पड़ता है।

निकाचित श्रेणी का बान्धा हुआ कर्म इतना दृढ़ होता है कि उसको मिटाने, पलटने अथवा उसका प्रभाव कम करने की शक्ति जीव में नहीं होती, करोड़ों प्रतिकूल उपाय करने पर भी उसकी स्थिति और अनुभाग में रंचमात्र अन्तर नहीं आता। वह अपना पूर्ण फल देकर ही जीव का पिंड छोड़ता है। जप, तप, संयम आदि उसका प्रभाव कम करने या बदलने में असमर्थ रहते हैं।

'कर्म-गति टारे नाहि टरे' यह बात निकाचित कर्म के लिये सत्य प्रमाणित होती है। अतः अनेक शुभ अनुष्ठान कर लेने पर भी कभी अशुभ कर्म का फल टल न सके तो समझ लेना चाहिये कि निकाचित कर्म उदय में आ रहा है, अतएव आत्मा और कर्म के युद्ध में उस समय कर्म की विजय (जीत) हो रही है।

ऐसे विकट संकट के समय महान धैर्य की आवश्यकता है उस समय व्याकुल होकर अपनी विचारधारा—मन, वचन, शरीर की क्रिया—को दुखमय न बनाकर शान्त स्थिर बनाना चाहिये, धर्म-आराधना को शिथिल न करना चाहिये जिससे आगामी अशुभ कर्म-बन्ध न होने पावे।

साधारण धर्मात्मा या भाग्यशाली जीवों की तो बात ही क्या, निकाचित कर्म तो सबसे अधिक महान व्यक्ति तीर्थंकर को [illegible] चक्रवर्ती सम्राट, नारायण आदि को भी अशुभ फल देते [illegible] चूकता।

आत्मा का पराक्रम

कर्म की शक्ति प्रबल अवश्य है जिससे कि वह अनन्त शक्ति के स्वामी आत्मा को शक्तिहीन बनाकर संसार-चक्र में घुमा रहा है, दीन हीन दुखी बनाकर संसार की जेल में आत्मा को बन्दी (कैदी) बनाये हुए है।

परन्तु यह सब-कुछ आत्मा की अपनी भूल का परिणाम है। आत्मा यदि अपनी भूल को थोड़ा भी सुधार लेता है तो कर्मों के घन पटल ऐसे छिन्न भिन्न हो जाते है, जैसे सूर्य-उदय होने पर रात्रि का गहन अन्धकार छिन्न भिन्न हो जाता है।

जैसे भूल से विष खा लेने के पश्चात् बुद्धिमान मनुष्य किसी अनुभवी वैद्य की चिकित्सा करके अपने शरीर का विष वमन (कय) या मलत्याग (टट्टी) करके बाहर निकाल देता है, विष का प्रभाव शरीर पर नहीं होने देता। इसी प्रकार आत्मा अपनी भूल से कर्म-बन्ध किया करता है किन्तु जिस समय उसे आत्म-बोध (अपनी गलती का ज्ञान तथा अपने असली स्वरूप का अनुभव) होता है तब वह विवेक ज्ञान, वैराग्य, त्याग, संयम, तप, आत्म-चिन्तन द्वारा उस पूर्व-बद्ध कर्म को प्रभाव-हीन कर डालता है, उसकी स्थिति, अनुभाग को कम कर देता है, उसको रसहीन करके आत्मा से निकाल बाहर (अविपाक निर्जरा) करता है, अशुभ, दुखदायक फल देने वाले कर्मों का रस (तासीर), प्रकृति बदल देता है।

इस तरह संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण (शुभ कर्मों में स्थिति ...ाग बढ़ना), तथा निर्जरा द्वारा कर्मों की शक्ति को विवेकी ...क्षीण कर डालता है।

श्रेणिक राजा ने परम निःस्पृह, शान्त, आत्मनिमग्न श्री यशोधर मुनि को अपने भयानक क्रोध का लक्ष्य (निशान) बनाकर उनका शरीर चीड़फाड़ डालने के लिये उन पर अपने शिकारी कुत्ते छोड़े, किन्तु परम शान्त मुनि के निकट पहुँच कर वे शान्त हो गये, तब श्रेणिक (बिम्बसार) राजा स्वयं नगी तलवार निकाल उन्हे मारने के लिये झपटा, किन्तु मार्ग मे काला सर्प आ गया तब उसने अपना क्रोध उस पर निकाल डाला, उस सर्प को मार कर वह यशोधर मुनि के गले मे डाल आया।

इस भयानक क्रोध और कुकृत्यके कारण उसने सातवें नरक की ३३ सागर प्रमाण आयु का बन्ध किया। परन्तु जब उसे अपनी रानी चेलना की प्रेरणा से धर्म-रुचि जाग्रत हुई तब वह भगवान महावीर का परम विनीत धार्मिक शिष्य बन गया। उस समय उसने अपने धर्म-साधन द्वारा उस सातवें नरक की ३३ सागर की आयु को घटाकर पहले नरक की केवल ८४ हजार वर्ष की कर डाली।

इस तरह कर्मों का क्षय (तहस नहस) कर डालने के लिये आत्मा मे अचिन्त्य पराक्रम है।

कर्मों से मुक्ति किस प्रकार

जैसे कोई ऋणी (कर्जदार) मनुष्य ऋण चुकाने की अपेक्षा यदि नया नया ऋण अधिक मात्रा मे या उतनी (चुकाने की) ही मात्रा मे लेता जावे तो वह कभी ऋण (कर्ज) से नहीं छूट सकता। ऋण से छुटकारा उसका तभी हो सकता है जब कि अपना [illegible] ऋण अधिक मात्रा में चुकाता जावे और नया ऋण थोड़ा लेना प्रारम्भ करे।

इसी प्रकार संसारी जीव प्रतिसमय जितना कर्मभार (कर्म का बोझ) अपने ऊपर से (कर्म का) फल भोग कर उतारता है (निर्जरा करता है) उतना ही (बल्कि उससे कुछ अधिक) नया कर्मभार (समय प्रबद्ध) अपने ऊपर चढ़ा लेता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि संसारी जीव अनादि समय से अब तक कर्म-बन्धन से नहीं छूट पाया।

अनात्म-श्रद्धा (मिथ्यात्व), स्वेच्छाचार (अविरत), आत्म-शोधन मे आलस्य (प्रमाद), विकृत भाव (कषाय) और शारीरिक वाचनिक, मानसिक प्रवृत्ति (योगों) द्वारा कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण (आस्रव) तथा बन्ध (आत्म-मिश्रण, कर्मरूप परिणमन) जीवों के हुआ करता है।

जिस समय सौभाग्य से जीव को आत्म-अनुभव द्वारा आत्म-श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) प्रगट होती है, तब कर्म-आकर्षण और कर्म-बन्ध का पहला मूल कारण (मिथ्यात्व) रुक जाने के कारण कर्म-संचय पहले की अपेक्षा थोड़ा होने लगता है। यानी—कर्मभार हलका होने लगता है।

वही जीव जब अपनी इन्द्रियों का नियन्त्रण (कन्ट्रोल) करके व्रत, संयम, द्वारा और अधिक आत्म-शुद्धि करना प्रारम्भ करता है तब कर्म-बन्धन का दूसरा कारण (अविरत) हट जाने से कर्म-सचय और भी कम हो जाता है।

जब वह आत्मा सचेत होकर आत्मचिन्तन (आत्मध्यान) से निमग्न होता है, तब कर्मबन्ध का तीसरा कारण (प्रमाद) भी दूर हो जाता है उस दशा में उसका कर्म-संचय और भी घट जाता है।

जब उसकी आत्म-ध्यान की दशा आगे आगे (उत्तरोत्तर) बढ़ती चली जाती है तब उसके काम, क्रोध, मान, मत्सर आदि दुर्भाव (कषाय) क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। दुर्भावों (कषायों) के नष्ट हो जाने से कर्मबन्ध की जड़ कट जाती है, तब से बन्धने वाले कर्मों में स्थिति, अनुभाग कुछ नहीं पड़ता, पहले समय का बांधा हुआ कर्म दूसरे समय में आत्मा से छूट जाता है।

जब शरीर तथा वाणी की क्रिया भी सर्वथा बन्द हो जाती है तब कर्म का आकर्षण और बन्धन भी सर्वथा बन्द हो जाता है।

कर्म-संचय के इस रुकने के क्रम को शास्त्रीय भाषा में 'संवर' कहते हैं।

संवर के साथ साथ क्रमशः पूर्व-संचित कर्म अधिक अधिक मात्रा में निर्विष, नीरस (निष्प्रभाव) होकर क्षीण होते रहते हैं। इस प्रक्रिया को 'निर्जरा' कहते है।

इस संवर, निर्जरा की प्रक्रिया के समय उत्कर्षण (शुभ कर्मों में स्थिति, अनुभाग बढ़ने), अपकर्षण (अशुभ कर्मों की स्थिति अनुभाग घटना), संक्रमण (अशुभ कर्मों का शुभ कर्म रूप होना) उदीरणा (समय से पहले उदय में आना) आदि कार्य भी होते रहते हैं।

जिस तरह किसी सरोवर (तालाब) में पांच मोरियों से जल आता हो, यदि उन मे से एक मोरी बन्द कर दी जावे तो पानी का आना पहले से कुछ कम हो जावेगा। तदनन्तर दूसरी मोरी बन्द हो जाय तो पानी और भी कम आवेगा। इसी तरह तीसरी, चौथी मोरी को क्रम से बन्द कर देने पर तालाब मे जल का आना कम हो जायगा। जब सभी मोरियां बन्द हो जावें और

निकास बढ़ता चला जावे तो एक दिन वह तालाब बिलकुल सूख जायगा। ऐसी ही बात आत्मा से कर्मों के छूटने की है। संवर और निर्जरा द्वारा आत्मा एक दिन कर्मों से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेता है या कर सकता है।

अनादि कर्म-बन्धन का अन्त असम्भव नहीं

यद्यपि जीव, पुद्गल आदि जड़ चेतन पदार्थ तथा उनका समुदायरूप यह जगत अनादि (जिसका कोई प्रारम्भ समय न हो) है और अनन्त समय तक रहेगा, कभी नष्ट न होगा। इस तरह एक नियम-सा बन जाता है कि जिसका प्रारम्भ समय (आदि) नहीं होता उसका अन्त समय भी नहीं होता।

परन्तु यह बात आत्मा और कर्म-सम्बंध के विषय में लागू नहीं होती। क्योंकि कर्म एक विजातीय जड़ पदार्थ है उसका आत्मा के साथ 'संयोग' (विलक्षण) सम्बन्ध है, कथञ्चित् तादात्म्य (समवाय) सम्बन्ध नहीं है। संयोग संबंध अनादिकाल का भी हो किन्तु वह कभी छूट भी सकता है। (वैसे जगत में सभी जड़ चेतन पदार्थ अनन्तकाल तक साथ साथ संयोग रूप से रहेंगे)।

जिस तरह यदि सोने में चान्दी ताम्बा या पाषाण आदि विजातीय पदार्थ का मिलाप अनादि समय से ही क्यों न रहा हो किन्तु उसको न्यारिया (सोना शोधनेवाला मनुष्य) अलग अलग कर देता है। इसी तरह आत्म-शोधक व्यक्ति अपने शुद्ध प्रयोगों से विजातीय जड़ कर्मों को आत्मा से दूर कर डालता है।

वैसे कोई भी अनादिकाल का कर्म आत्मा के साथ है नहीं। संचय होता है वह कुछ समय पीछे अपना फल देकर या

जब उसकी आत्म-ध्यान की दशा आगे आगे (उत्तरोत्तर) बढ़ती चली जाती है तब उसके काम, क्रोध, मान, मत्सर आदि दुर्भाव (कषाय) क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। दुर्भावों (कषायों) के नष्ट हो जाने से कर्मबन्ध की जड़ कट जाती है, तब से बन्धने वाले कर्मों में स्थिति, अनुभाग कुछ नहीं पड़ता, पहले समय का बांधा हुआ कर्म दूसरे समय मे आत्मा से छूट जाता है।

जब शरीर तथा वाणी की क्रिया भी सर्वथा बन्द हो जाती है तब कर्म का आकर्षण और बन्धन भी सर्वथा बन्द हो जाता है।

कर्म-संचय के इस रुकने के क्रम को शास्त्रीय भाषा में 'संवर' कहते हैं।

संवर के साथ साथ क्रमशः पूर्व-संचित कर्म अधिक अधिक मात्रा मे निर्विष, नीरस (निष्प्रभाव) होकर क्षीण होते रहते हैं। इस प्रक्रिया को 'निर्जरा' कहते हैं।

इस संवर, निर्जरा की प्रक्रिया के समय उत्कर्षण (शुभ कर्मों में स्थिति, अनुभाग बढ़ने), अपकर्षण (अशुभ कर्मों की स्थिति अनुभाग घटना), संक्रमण (अशुभ कर्मों का शुभ कर्म रूप होना) उदीरणा (समय से पहले उदय में आना) आदि कार्य भी होते रहते हैं।

जिस तरह किसी सरोवर (तालाव) मे पांच मोरियों से जल आता हो, यदि उन में से एक मोरी बन्द कर दी जावे तो पानी का आना पहले से कुछ कम हो जावेगा। तदनन्तर दूसरी मोरी बन्द हो जाय तो पानी और भी कम आवेगा। इसी तरह तीसरी, चौथी मोरी को क्रम से बन्द कर देने पर तालाव मे जल का आना कम हो जायगा। जब सभी मोरियां बन्द हो जावे और

निकास बढता चला जावे तो एक दिन वह तालाब बिलकुल सूख जायगा। ऐसी ही बात आत्मा से कर्मों के छूटने की है। संवर और निर्जरा द्वारा आत्मा एक दिन कर्मों से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेता है या कर सकता है।

अनादि कर्म-बन्धन का अन्त असम्भव नहीं

यद्यपि जीव, पुद्गल आदि जड़ चेतन पदार्थ तथा उनका समुदायरूप यह जगत अनादि (जिसका कोई प्रारम्भ समय न हो) है और अनन्त समय तक रहेगा, कभी नष्ट न होगा। इस तरह एक नियम-सा बन जाता है कि जिसका प्रारम्भ समय (आदि) नहीं होता उसका अन्त समय भी नहीं होता।

परन्तु यह बात आत्मा और कर्म-सम्बध के विषय में लागू नहीं होती। क्योंकि कर्म एक विजातीय जड़ पदार्थ है उसका आत्मा के साथ 'संयोग' (विलक्षण) सम्बन्ध है, कथञ्चित् तादात्म्य (समवाय) सम्बन्ध नहीं है। संयोग संबंध अनादिकाल का भी हो किन्तु वह कभी छूट भी सकता है। (वैसे जगत मे सभी जड़ चेतन पदार्थ अनन्तकाल तक साथ साथ संयोग रूप से रहेंगे)।

जिस तरह यदि सोने मे चान्दी ताम्बा या पाषाण आदि विजातीय पदार्थ का मिलाप अनादि समय से ही क्यों न रहा हो किन्तु उसको न्यारिया (सोना शोधनेवाला मनुष्य) अलग अलग कर देता है। इसी तरह आत्म-शोधक व्यक्ति अपने शुद्ध प्रयोगों से [illegible]जातीय जड़ कर्मों को आत्मा से दूर कर डालता है।

[illegible]से कोई भी अनादिकाल का कर्म आत्मा के साथ है नहीं। [illegible] संचय होता है वह कुछ समय पीछे अपना फल देकर या

विना दिये भी (अविपाक निर्जरा) आत्मा से छूटता रहता है। इस तरह बहती हुई गंगा की जलधारा के समान आत्मा और कर्म का सम्बन्ध परम्परा से अनादि है।

ज्ञान आदि आत्मा के अपने गुण हैं, इस कारण वे कभी भी आत्मा से अलग नहीं हो सकते। किन्तु कर्म तो आत्मा के गुण हैं नहीं वे तो एक अन्य पौद्गलिक पदार्थ है अतः उनका संयोग सदा स्थिर नहीं रहता।

फल मिलने का अवसर

कर्मों का फल उनकी प्रकृति के अनुसार जीव को मिला करता है। परन्तु कभी कभी कर्मफल के अनुकूल द्रव्य (आत्मा या पर पदार्थ), क्षेत्र (स्थान), काल और भाव (आत्मा के परिणाम) न हों तो कर्म का फल उसकी प्रकृति के अनुसार नहीं भी मिलता है।

जैसे नारकी जीव के यदि साता वेदनीय कर्म का उदय हो तो वहाँ का द्रव्य-क्षेत्र काल भाव सुखजनक न होने से उस जीव को सुख नहीं मिल पाता, वह दुखजनक रूप से ही फल देकर झर जाता है। देवों के यदि असाता वेदनीय कर्म उदय में आवे तो स्वर्ग में दुखदायक द्रव्य क्षेत्र काल भाव न मिलने से वह दुख नहीं दे पाता, सुखदायक रूप में झर जाता है।

व्याख्यान सुनते समय, चलचित्र (सिनेमा) देखते सम[illegible] निद्रा कर्म का उदय विना नींद लाये खिर जाता है। किसी [illegible] में गहरी दिलचस्पी से लगे हुए मनुष्य को क्षुधाजनक [illegible] वेदनीय कर्म भूख की वेदना विना दिये खिर जाता है।

डाक्टर गणेशप्रसादजी (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रिंसिपल) ने अपनी पीठ के भयानक अदृश्य (अडीठ) फोड़े का आपरेशन विना वेहोश हुए कराया, उस समय वे एक पुस्तक पढ़ने में तन्मय हो गये थे, अतः उस समय असाता वेदनीय कर्म उनको रंचमात्र भी पीड़ा अनुभव न करा सका। वे जरा भी हिले डुले नहीं, आध घण्टे तक निष्कम्प बैठे रहे।

इत्यादि रूप से कर्म का फल बदल भी जाता है।

सामूहिक कर्म-बन्ध

कभी कभी ऐसा भी अवसर आता है, कि अनेक व्यक्ति एक समान शुभ या अशुभ कर्म बान्ध लेते हैं। जैसे बाढ़, अग्निदाह, भूकम्प आदि के समय विपत्ति में फँसे हुए स्त्री, पुरुषों को बचाने के लिये हजारों दयालु मनुष्य स्वय सेवकों के रूप में एक साथ लग पड़ते हैं। उस समय उन सब के मानसिक भाव प्रायः एक समान शुभ होते हैं, अतः उन सबके शुभ कर्मों का बन्ध प्रायः एक समान होता है।

इसी तरह टिड्डियों, सर्प, सिंह आदि को मारने वाले हजारों मनुष्य क्रुद्ध होकर एक साथ हिंसाकृत्य में प्रवृत्त होते हैं, राज-क्रान्ति के समय लाखों मनुष्य अन्य देशवासियों की सम्पत्ति लूटने खोसने में लग जाते हैं, उस समय उन सबके प्रायः एक समान अशुभ परिणाम होते हैं, इस कारण उन सब के प्रायः एक समान अशुभ कर्म का बन्ध होता है। इसे 'सामूहिक कर्म-बन्ध' कहते हैं।

ऐसा सामूहिक कर्म जब उदय में आता है तब उन हजारों मनुष्यों को एक समान सुख या दुख एक साथ प्रायः एक-

समान मिलता है। नदी में डूबने वाली नौका में बैठे हुए स्त्री-पुरुषों की तरह वे एक साथ मर जाते हैं। जैसे—अमेरिका द्वारा जापान के हिरोशिमा और नागासीका नगर पर गिराये गये अणु-बमों से दोनों नगरों के हजारों नर नारी एक साथ मर गये।

पापानुबन्धी पुण्य

अनेक व्यक्ति ऐसे दीख पड़ते हैं कि जो सदा धर्माचरण करते हैं, किसी का कोई अहित नहीं करते, सदाचार से रहते हैं फिर भी उन्हें इष्टवियोग (पुत्र मित्र स्त्री मरण आदि) तथा अनिष्ट संयोग (कुपुत्र-कुलटा स्त्री, विश्वास-घाती मित्र, शत्रु आदि का मिलना), रोग आदि का दुख मिलता रहता है। बहुत तंगी, दरिद्रता मे उनका समय बीतता है।

उनके इस दुख का कारण पूर्वभव में बान्धा हुआ अशुभ कर्म है, उस अशुभ कर्म के उदय से उन्हें दुख भोगना पड़ता है। इस समय जो वे शुभ कर्म कर रहे हैं उससे उनके सुखदायक पुण्य कर्मों का संचय हो रहा है जो कि उनको भविष्य मे सुख देगा।

इसी तरह अनेक व्यक्ति हिंसा, व्यभिचार, अनीति, अत्याचार, दुराचार करते हुए भी सुख पा रहे हैं, इसका भी यही अभिप्राय है कि उन्होंने पूर्वजन्म मे शुभ कार्य करके जो पुण्यकर्म संचय किया था उसका शुभ फल उन्हें यहां पर मिल रहा है। इस समय जो वे पापकृत्य करते रहे हैं उसका अशुभ फल उन्हे भविष्य में भोगना पड़ेगा।

इस तरह कोई "पापानुबन्धी पुण्य कर्म" होता है और 'पुण्यानुबन्धी पाप कर्म" होता है।

जिस शुभ कर्म के उदय से सुख भोगते हुए मनुष्य पाप कार्य करते हुए भविष्य के लिये दुखदायक अशुभ कर्म बांधा करता है उसे "पापानुबन्धी पुण्यकर्म" कहते हैं। और अशुभ कर्म के उदय से दुख भोगते हुए भी जो शुभ कार्य करते रहते हैं वे भविष्य के लियेशुभकर्म संचय करते हैं उनके "पुण्यानुबन्धी पापकर्म" का उदय होता है।

गोडसे ने गान्धी जी को मारा

भावकर्म और द्रव्यकर्मों की परम्परा अनादि काल से चली आरही है। तदनुसार क्रोध मान आदि दुर्भावों के अनुसार मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है और पूर्वबद्ध मोहनीय आदि द्रव्यकर्म के उदय के अनुसार क्रोध आदि (विकृतभावरूप भावकर्म होते हैं।

ऐसी ही परम्परा कभी कभी वैर तथा प्रेम भाव की भी चल पड़ती है। तेईसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीव नौ भव पूर्व राजमंत्री मरुभूति था, उसका दुराचारी बड़ा भाई कमठ था। कमठ ने अकारण अपने सज्जन भाई मरुभूति से वैर बांध लिया तदनुसार उसने उस भव में ही नहीं, आगामी आठ भवों में भी मरुभूति के जीव को कष्ट दिया। मरुभूति का जीव जिस भव में भी उसके सामने आया कि उसका पूर्वभव का वैरभाव जाग्रत हो आया और उसने उसका बदला लेकर छोड़ा।

जन श्रुति के अनुसार कहा जाता है कि—शिवा जी पहले भव [illegible] हिन्दू मन्दिर का पुजारी था। मुसलमानों ने उस मन्दिर को [illegible]करके उस पुजारी को मार डाला। दूसरे भव में वह

पुजारी महाराष्ट्र का प्रख्यात देशभक्त वीर शिवाजी हुआ, उसने पूर्वभव के वैर के अनुसार मुसलमानों को मार कर बदला लिया।

इसी तरह हो सकता है कि नाथूराम गोडसे का गान्धी जी के साथ पूर्वभव का वैर हो, जिस से प्रेरित होकर उसने गान्धी जी को पिस्तौल से मारा हो। और यह भी हो सकता है कि गोडसे ने इसी भव में क्रोध के आवेश से गान्धी जी को मार डाला हो।

दोनों दशाओं में यह तो मानना ही पड़ेगा कि मरने के समय गान्धी जी के पूर्वसंचित अशुभकर्म का उदय था जिसके फलस्वरूप गोडसे के निमित्त से उन्हें मरण दुख भोगना पड़ा।

कलियुग नहीं करयुग है

पुरातन समय के मनुष्यों में महान् बल हुआ करता था, रावण ने कैलाश पर्वत उठाने का प्रयत्न उसी महान् बल के आधार पर किया था। बाहुबलीने एक वर्ष तक अडिग खड़े होकर तपस्या की थी, नारायण ने कोटिशिला उठाई थी। उसी महान बल के अनुसार वे महान् क्रोध या महान् धैर्य शान्त भावों से उच्च स्थिति एवं उच्च अनुभाग वाला, सातवें नरक या सर्वार्थ सिद्धि पहुँचाने वाला, शुभ, अशुभ कर्मों का बन्ध किया करते थे। तदनुसार उन बड़ी स्थिति वाले कर्मों का आबाधा काल बहुत होता था, अतः वह कर्म बहुत समय पीछे उदय में आकर अपना फल देता था।

आज कल स्त्री पुरुषों में बल बहुत कम रह गया है, [illegible] कारण वे उग्र क्रोध आदि दुर्भाव तथा उच्च कोटि के [illegible] शुभ भाव नहीं कर सकते। सातवे नरक जाने या [illegible]

और सर्वार्थ सिद्धि आदि उच्च स्वर्ग जाने योग्य शुभ कर्म का उपार्जन भी आज कल के व्यक्ति नहीं कर सकते ।

तदनुसार उनके उपार्जित कर्मों की स्थिति थोड़ी होती है स्थिति के अनुसार उनकी आबाधा थोड़ी होती है जिससे कि वे थोड़े समय बाद ही उदय में आकर फल देने लगते है ।

परिणाम यह होता है आज कल जो जैसा शुभ या अशुभ कार्य करता है, प्रायः कुछ समय पीछे इसी भव में उसको उन कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिल जाता है ।

इसी कारण कहावत चल पड़ी है—

कलियुग नहीं, करयुग है ये तो,
करके अनुभव देख लो ।
क्या खूब सौदा बिक रहा,
इस हाथ दो उस हाथ लो ॥

मुक्त हो जाने पर

आत्म-अनुभव (आत्म दर्शन या सम्यग्दर्शन) हो जाने के पश्चात् जब संसारी जीव आत्म-शुद्धि मे लग जाता है, तब वह संवर और निर्जरा की प्रक्रिया द्वारा क्रमशः अपने आत्मा से कर्म-भार हलका करता हुआ कुछ समय मे समस्त कर्मों को आत्मा से पृथक् कर देता है । उस समय उसके ज्ञान, दर्शन, सुख बल आदि गुण प्रतिबन्धक कारण (कर्म) हट जाने से पूर्ण [illegible]सित हो जाते है । अतः मुक्त (कर्म बन्धन से मुक्ति यानी [illegible] पाया हुआ) आत्मा सर्वज्ञाता दृष्टा, अक्षय अनन्त [illegible] सम्पन्न हो जाता है । आयु कर्म न रहने से फिर उसको [illegible] होता, नाम कर्म का क्षय हो जाने से उसके

सूक्ष्म (तैजस कार्माण) शरीर और स्थूल शरीर नहीं रहता। मोहनीय कर्म न रहने से चिन्ता, इच्छा, राग, द्वेष, भय, मोह, काम, क्रोध आदि दुर्भाव नहीं रहते।

दुर्भावों के (भावकर्मों के) सर्वथा नष्ट हो जाने से उसे फिर कर्म बन्ध (द्रव्य कर्म) नहीं होता। वेदनीय कर्म के अभाव में किसी तरह की उसे बाधा नहीं होती, गोत्र कर्म न रहने से उच्चता, नीचता का व्यवहार नहीं रहता।

इस तरह मुक्त-आत्मा अजर अमर, पूर्ण सुखी, पूर्ण ज्ञानी, (त्रिकालज्ञाता), निरञ्जन, निर्विकार, सांसारिक आवागमन तथा अन्य सभी प्रपञ्चों से सदा के लिये छूट जाता है।

जैसे ऊपर से छिलका उतर जाने पर चावल (धान) में फिर उगने की शक्ति नहीं रहती, इसी प्रकार कर्म आवरण दूर हो जाने पर आत्मा भी जन्म मरण से छूट जाता है।

मुक्त आत्मा अन्तिम शरीर के आकार (कुछ न्यून) में रह जाता है, और अग्नि शिखा जैसे स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, इसी तरह वह भी ऊपर लोकशिखर तक जाता है और वहीं ठहर जाता है।

मुक्त आत्मा और ईश्वर भिन्न नहीं

आत्मा की तीन दशाएँ हैं—१ आत्मा, २—महात्मा, ३—परमात्मा।

साधारण संसारी, कर्मबन्धन में पड़े हुए जीव 'आत्मा' [illegible]
लाते हैं। जो बुद्धिमान व्यक्ति आत्म-अनुभव के पश्चात् [illegible]
प्रपंच से अलग होकर आत्मशुद्धि करने में तन्मय हो [illegible]

अपना सारा समय आत्मचिन्तन, आत्मशोधन में लगाते हैं, वे 'महात्मा' होते हैं।

महात्मा (साधु) जब संवर, निर्जरा द्वारा कर्मभार हलका करते करते कर्मों से पूर्ण मुक्ति पालेते हैं तब उन मुक्त आत्माओं को 'परमात्मा' (परम—सब से उत्तम+आत्मा) कहते हैं। परमात्मा ईश्वर आदि शब्द उसी मुक्त-आत्मा के वाचक हैं।

'ईश्वर' एक पद है जो कि कर्मों का सर्वथा क्षय कर लेने पर मुक्त-आत्मा को मिलता है। अतः जो भी व्यक्ति पूर्णमुक्त हो जाता है, वह ईश्वर या परमात्मा कहलाता है।

इस कारण ईश्वर एक ही नहीं है, अनन्त हैं, जो भी मुक्त हो चुके हैं सभी ईश्वर हैं।

जगत के बनाने बिगाड़ने में जीवों को कर्म-फल देने में ईश्वर का कुछ सम्बन्ध नहीं है, यह बात स्पष्ट रूप से पहले बताई जा चुकी है।

परमात्मा से हमको क्या लाभ है

ईश्वर या परमात्मा सांसारिक प्राणियों के लिये एक आदर्श (बनने योग्य नमूना) है। उसकी उपासना भक्ति पूजा भी इसी अभिप्राय से की जाती है कि हमारा विकृत, अशुद्ध आत्मा भी परमात्मा के समान शुद्ध निर्विकार बन जावे। इसके सिवाय अन्य कोई प्रयोजन परमात्मा (भगवान) की भक्ति का नहीं है।

पुराने समय मे भगवान की भक्ति, उपासना से जिन भक्त[illegible] के संकट दूर हुए, वे सकट स्वयं परमात्मा ने आकर नहीं [illegible] सकट या तो उस भक्त के उन शुभकर्मों के उदय से दूर [illegible] भगवान की उपासना से संचित किये थे।

अथवा दिव्य शक्तिशाली देवोंने उसके शुभकर्म उदय का निमित्त पाकर उन संकटों को दूर किया।

भगवान की उपासना, भक्ति, स्मरण, स्तुति, पूजन आदि से सुखदायक, शुभ कर्मों का उपार्जन होता है, अतः निमित्त कारण की अपेक्षा भगवान परमात्मा को दुखहारी या सुखकारी कहा जाता है। वास्तव में परमात्मा स्वयं न किसी को सुख देता है, न किसी को दुख देता है। हम यदि भगवान की उपासना आदि करके शुभ कर्मों का उपार्जन स्वयं न करें तो भगवान हमको त्रिकाल में भी सुखद नहीं हो सकता।

बिजली के प्रकाश में विद्यार्थी अपना पाठ याद करते हैं इस अपेक्षा कभी कभी वे कह देते हैं कि बिजली ने हमको पाठ याद करा दिया किन्तु यदि कोई बिजली के प्रकाश में भी अपना पाठ याद न करे तो बिजली स्वयं पाठ याद न करा सकेगी। ऐसी ही बात परमात्मा के विषय में है।

कर्म का निर्माता और संहारक

सारांश यह है कि यह जीव कर्मों की खेती स्वयं करता है और स्वयं उस खेती के फल खाता है। अच्छा बीज (शुभकर्म) बोता है तो उसे मधुर फल (सांसारिक सुख) मिलते हैं। यदि यह बुरे बीज बोता है, तो इसे कटुक फल (दुखमय) अनिच्छा से भी खाने पड़ते हैं। इस तरह राग द्वेष आदि शुभ अशुभ भावों से कर्मों का निर्माण यह जीव स्वयं करता है

यदि यह जीव अपने लिये बन्धन या जाल समझ कर कर्मों की खेती करना छोड़ देता है, तो संवर और निर्जरा की [illegible] (ढंग) से कर्मों का संहार (क्षय) भी यह जीव [illegible] डालता है।

इस तरह न तो कोई अन्य व्यक्ति जीव को कर्मजाल में बल-पूर्वक (जबरदस्ती) फंसाता है और न कोई अन्य व्यक्ति संसारी जीव का कर्मबन्धन काटता है। दोनों काम जीव क्रमशः अपनी भूल तथा तत्वचिंतन से स्वयं करता है।

कर्म-बन्धन करके संसार की विविध योनियों में भटकना भी जीव के अपने अधीन है और कर्मबन्धन छिन्न भिन्न कर के अजर अमर परमात्मा बन जाना भी जीव के अपने अधीन है। अन्य कोई भी शक्ति इसे शान्ति, सुख या मुक्ति नहीं दे सकती।

इसकारण

बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने प्रबल पराक्रम का अनुभव करे, अपने आप को कर्मों से बलहीन न समझे। संसार में कर्मों को ही अपना शत्रु समझे अन्य किसी को शत्रु न समझे अतः प्रतिक्षण कर्मों को निर्बल बनाने का प्रयत्न करता रहे।

लक्ष्य यह होना चाहिये कि संसार के किसी भी जड़ या चेतन पदार्थ को यहां तक कि शरीर को भी अपना न समझे अतः किसी से (पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, मकान, आदि से) भी मोह ममता न करे और न किसी भी जड़चेतन पदार्थ को बुरा, अनिष्ट, शत्रु मान कर उससे घृणा, द्वेष, क्रोध, अभिमान प्रगट करे। शुद्ध आत्म-चिन्तन में निमग्न रहे। ऐसा करने से कर्म की बेड़ी टूट जाती है और आत्मा पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है।

गृहस्थाश्रम मे रहने वाले व्यक्ति को संसार के अनेक धन्धे (लाचार) होकर करने पड़ते हैं। ऐसी दशा में गृहस्थों का सब कुछ करते हुए भी अपने आत्मा को निर्बल न

उनको भी आत्म-शुद्धि का लक्ष्य अवश्य रखना चाहिये। उन्हें अपने हृदय में विश्वास जमा लेना चाहिये कि मैं जो कुछ भी करूंगा उसका फल मैं अकेला ही भुगतूंगा। अशुभ कर्म के उदय से यदि कोई दुख विपत्ति आवेगी तो मुझे ही भोगनी पड़ेगी, नरक आदि योनि में मुझे ही जाना पड़ेगा, अतः मैं अपने लिये तथा अपने परिवार के लिये कोई अन्याय, अधर्म, दुराचार, विश्वास-घात, झूठ. चोरी, धोखाधड़ी, छल कपट, अनीति, अत्याचार, अन्य प्राणी का घात न करूं। दया, क्षमा, शौच, सदाचार, नम्रता, न्याय, नीति के कार्य करके शुभ कर्मों का उपार्जन करूं।

शान्ति, क्षमा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, निर्भयता, समता, आत्मचिन्तन, वैराग्य भावना से कर्मों को यथाशक्ति क्षीण करते जाना बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है।

क्रोध, अभिमान आदि करने से आत्मा की शक्ति क्षीण होती है, कर्मों की शक्ति बढ़ती है। और क्षमा, नम्रता, तप, त्याग, सयम ब्रह्मचर्य आदि से आत्मा की शक्ति बढ़ती है, कर्मों का बल क्षीण होता है। अतः आत्म-चिन्तन (सामायिक), वैराग्य भावन, पूजन, साधु-व्रती की सेवा, स्वाध्याय, दान, सत्य व्यवहार, पत्नी-व्रत, दीन-निर्बल-असहाय-अनाथ-विधवा की सहायता करना, निरपराध को न सताना, नीति न्याय से काम धन्धा करना, जाति-समाज-देश को हानिकारक अनुचित लाभ एवं स्वार्थ-साधन का त्याग करना, धोखा तथा विश्वासघात न करना, कृतघ्न न [illegible] सरल नम्र रहना, धर्म प्रचार, ज्ञान प्रचार में तन, मन [illegible] योग देना. काम चोर न बनना, आदि कार्य करना [illegible] कर्तव्य है।

दुर्भाग्य बलवान हो तो- - - -

अपने दुर्भावों से उपार्जित दुर्भाग्य (असाता वेदनीय, अन्तराय आदि अशुभकर्म) उदय होने पर जीव पर अनेक प्रकार की विपत्तियां आया करती हैं, एक विपत्ति समाप्त नहीं होने पाती कि झट दूसरी आ खड़ी होती है। बलभद्र रामचन्द्र का राज्य-अभिषेक होने वाला था कि केकयी की प्रेरणा से उनके पिता ने उनको बन में जाकर रहने की आज्ञा दी, उस असह्य विपत्ति को उन्होंने स्वीकार किया, तो वे जंगल मे भी शान्ति से न रहने पाये, वहां पर उनकी प्राणप्रिया पत्नी सीता का रावण ने अपहरण कर लिया, उस विपत्ति से मुक्ति नहीं पाई कि लघु-भ्राता लक्ष्मण युद्ध मे रावण द्वारा सख्त घायल होकर मूर्छित हो गया।

अशुभ कर्म की प्रबलता में अनेक तरह के प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। मनुष्य विह्वल, व्याकुल, निश्चेष्ट, किं--कर्तव्यविमूढ़ (कर्तव्य निश्चित करने में असमर्थ) हो जाता है। उस समय बहुत भारी साहस, धैर्य, शान्ति और शांत मस्तिष्क (ठंडे दिमाग की) आवश्यकता है। रोना, शोक करना, घबड़ाना, निष्क्रिय हो जाना (काम छोड़कर बैठजाना) उचित नहीं क्योंकि ऐसा करने से कुछ काम नहीं बनता, प्रत्युत (उलटे) दुखकारी, हानिकारक अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

प्रबल दुर्भाग्य को मेटने या बदलने के लिये प्रबल साहस [illegible]र प्रबल उद्योग की एवं प्रबल उत्साह तथा शान्त भावों की [illegible]श्यकता है। दुर्भाग्य भी तो अपने बोये हुए बीज का ही [illegible] अंकुर है। कुपुत्र की तरह उसको यथा समय सहन [illegible]रे। साथ ही सामायिक, भगवान की भक्ति उपासना

पूजन, स्वाध्याय, दान आदि धर्म-कार्य करने में और अधिक समय लगाना चाहिये जिस से कि शुभ कर्म का उपार्जन हो, अशुभ कर्म की शक्ति क्षीण हो।

तथा-उचित उद्योग में लगे रहना चाहिये। सुमार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अपने मार्ग की कठिनाइयों को पार करता हुआ कभी न कभी लक्ष्य पर पहुँच ही जाता है। कायर पुरुषों को अशुभ कर्म रेखा और अधिक दुख पहुँचाती है।

अतः साहसी, वीर, धैर्यशील, कर्मठ बनकर अशुभकर्म का सामना करना चाहिये। साहसी वीर पुरुष कर्म से युद्ध करते हुए उसे पछाड़ देते हैं।

स्व० कविवर बा० न्यामतराय जी ने अपनी निम्नलिखित कविता में अच्छा उद्बोधन किया है, इसे स्मरण रखना चाहिये।

कर्म की रेख में भी मेख बुधजन मार सकते हैं;
कर्म क्या है उसे पुरुषार्थ से संहार सकते हैं।

कर्म संचित बुरे गर हैं, तो भाई इसका क्या डर है,
बुरे ऐमालनामे को भी, वे सुधार सकते है।

कर्म से तो बड़ा बलवान, है पुरुषार्थ दुनिया में,
उदय भी कर्म का गर हो, उसे भी टाल सकते हैं।

ज्ञान सम्यक्त्व चारित से तप वैराग्य संयम से,
पाप दरिया में डूबे को, हम उभार सकते हैं।

कर्म का डर जमा रक्खा है, हौवाकी तरह यों ही
इन्हें तो ध्यान के इक तीर से भी मार सकते

करें साहस तो सारी मुश्किलें आसान हो जावें,
अगर दें हार हिम्मत तो,बिला शक हार सकते हैं।

करें पुरुषार्थ तो हम इम्तिहां (परीक्षा) में पास हो जावें,
कर्म के पुराने सारे, परचे फाड़ सकते हैं।

कर्मसागर से होना पार 'न्यामत' गरचे मुश्किल है,
मगर जिनधर्म के चप्पू से नौका तार सकते हैं।

परिशिष्ट

कर्म-बद्ध-जीव

वास्तव में आत्मा एक अमूर्तिक चेतन पदार्थ है। यद्यपि आत्मा के समान अमूर्तिक (रूप रस गन्ध स्पर्श से रहित—देखने, चखने, सूंघने तथा छूने में न आ सकने वाले) आकाश, काल, धर्म, अधर्म द्रव्य भी हैं, परन्तु वे ज्ञान-शून्य अचेतन जड़ पदार्थ हैं एवं निष्क्रिय (अपने ही एक स्थान पर रहे आने वाले) हैं, अतः आत्मा एक अनुपम महत्वशाली द्रव्य है। परन्तु संसार-निवासी [illegible]पा सदा से (अनादि समय से) कर्म के बन्धन में बन्धा हुआ [illegible] लाख योनि में भ्रमण कर रहा है, अब तक क्षण भर भी [illegible]न्द, पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो पाया।

कर्म अचेतन और मूर्तिक हैं फिर भी उन्होंने अपने विलक्षण बन्धन में आत्मा की शक्तियों को पराभूत करके आत्मा को बन्दी (कैदी) बना ही रक्खा है। अतः आत्मा वास्तव में शुद्ध चैतन्य गुणमय होने पर भी पर्याय दृष्टि से कर्म-बद्ध, अशुद्ध, परतन्त्र है ही। इसी कारण वह जन्म-मरण करता हुआ विविध पर्यायों में अनेक प्रकार के दुःख सहन कर रहा है।

जैसे साधारण कैमरे से शरीर का चित्र लिया जावे तो शरीर के बाहरी भाग (आंख, मुख, नाक, कान, बाल, चर्म, वस्त्र आदि) का रूप फोटो में अंकित होता है। यदि ऐक्सरे से शरीर का फोटो लिया जावे तो उसके द्वारा शरीर के भीतरी भाग (शरीर की हड्डियों आदि) का चित्र आता है, किन्तु वे भाग हैं एक ही शरीर के। इसी प्रकार द्रव्य दृष्टि से आत्मा शुद्ध, बुद्ध, अनन्त शुद्ध गुण-सम्पन्न, स्वतन्त्र, अजर, अमर, परमात्मा प्रतीत होता है। इसी बात को खूंटे पर बन्धी हुई गाय के दृष्टान्त द्वारा यों कह देते हैं कि 'वास्तव में रस्सी से रस्सी बंधी है, रस्सी गाय से नहीं बन्धी है, गाय ने भूल से अपने को बन्धा हुआ समझ रक्खा है।

पर्याय-दृष्टि से विचार किया जाय तो आत्मा संसार में कर्मों से बन्धा हुआ परतन्त्र, जन्म-मरण, भूख, प्यास आदि दुख सहन करता हुआ अल्पज्ञानी है ही। इस बात को असत्य, निराधार कैसे कहा जा सकता है? गाय यदि रस्सी से बन्धी हुई न होती, तो भूखी, प्यासी खूंटे पर ही क्यों खड़ी हुई दुख सहती रहती, वहां से छूट कर अपनी भूख प्यास क्यों न मिटा लेती, स्वच्छन्द क्यों न घूमती फिरती।

तांबे की मिलावट के अशुद्ध सोने को स्वच्छ सोना समझ लेने से ही उसका पूरा मूल्य नहीं मिल सक[illegible]

अग्नि में तपा कर तांबे की मिलावट से दूर करने पर स्वच्छ करना पडेगा, तब ही उसका पूर्ण मूल्य मिल सकेगा। इसी प्रकार आत्मा शुद्ध बुद्ध परमात्मा समझ लेने मात्र से आत्मा शुद्ध बुद्ध परमात्मा नहीं बन जाता, उसे तो तप त्याग संयम ध्यान की अग्नि में तपा कर कर्म मल से शुद्ध कर लेने के बाद ही शुद्धता और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति होने से ही पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता, उसके लिये तो विवाह करके विधि अनुसार अपनी पत्नी को गर्भ धारण कराना पड़ता है। ऐसी ही बात आत्मा के शुद्ध होने के विषय मे है। समझ लेने मात्र से ही आत्मा शुद्ध मुक्त स्वतन्त्र हो जाता तो यह जीव अनादि (अनन्त भूतकाल) से संसार में भ्रमण क्यों करता रहता।

दुख का निमित्त

'प्रत्येक कार्य निमित्त तथा उपादान कारण से सम्पन्न होता है,' यह कार्य-कारण-भाव का अटल नियम है। उपादान कारण यद्यपि स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है परन्तु वह तब तक कार्यकारी नहीं बन पाता जब तक कि उसे निमित्त कारण की सहायता न मिल पावे। हजारों मन कपास (कपड़े का उपादान कारण) पड़ा रहे किन्तु जब तक उसको सूत कातने वाले तथा कपड़े बुनने वाले व्यक्ति का निमित्त प्राप्त न होगा, तब तक वह कपास कपड़ा रूप नहीं बन सकती।

[इ]सी प्रकार जीव संसार मे स्वयं भ्रमण करता है—यानी—[उसमें] भ्रमण करने की उपादान कारण रूप शक्ति स्वयं है किन्तु [नि]मित्त कारण पौद्गलिक द्रव्य कर्म है। कर्मों के निमित्त [से जीव अनेक] योनियों में भ्रमण करता है। इतना ही नहीं बल्कि

कर्म अचेतन और मूर्तिक हैं फिर भी उन्होंने अपने विलक्षण बन्धन में आत्मा की शक्तियों को पराभूत करके आत्मा को बन्दी (कैदी) बना ही रक्खा है। अतः आत्मा वास्तव में शुद्ध चैतन्य गुणमय होने पर भी पर्याय दृष्टि मे कर्म-बद्ध, अशुद्ध, परतन्त्र है ही। इसी कारण वह जन्म-मरण करता हुआ विविध पर्यायों में अनेक प्रकार के दुःख सहन कर रहा है।

जैसे साधारण कैमरे से शरीर का चित्र लिया जावे तो शरीर के बाहरी भाग (आंख, मुख, नाक, कान, बाल, चर्म, वस्त्र आदि) का रूप फोटो में अंकित होता है। यदि ऐक्सरे से शरीर का फोटो लिया जावे तो उसके द्वारा शरीर के भीतरी भाग (शरीर की हड्डियां आदि) का चित्र आता है, किन्तु वे भाग हैं एक ही शरीर के। इसी प्रकार द्रव्य दृष्टि से आत्मा शुद्ध, बुद्ध, अनन्त शुद्ध गुण-सम्पन्न, स्वतन्त्र, अजर, अमर, परमात्मा प्रतीत होता है। इसी बात को खूंटे पर बन्धी हुई गाय के दृष्टान्त द्वारा यों कह देते हैं कि 'वास्तव में रस्सी से रस्सी बंधी है, रस्सी गाय से नहीं बन्धी है, गाय ने भूल से अपने को बन्धा हुआ समझ रक्खा है।

पर्याय-दृष्टि से विचार किया जाय तो आत्मा संसार में कर्मों से बन्धा हुआ परतन्त्र, जन्म-मरण, भूख, प्यास आदि दुख सहन करता हुआ अल्पज्ञानी है ही। इस बात को असत्य, निराधार कैसे कहा जा सकता है? गाय यदि रस्सी से बन्धी हुई न होती, तो भूखी, प्यासी खूंटे पर ही क्यों खड़ी हुई दुख सहती रहती, वहां से छूट कर अपनी भूख प्यास क्यों न मिटा लेती, स्वच्छन्द क्यों न घूमती फिरती।

तांबे की मिलावट के अशुद्ध सोने को स्वच्छ सोना समझ लेने से ही उसका पूरा मूल्य नहीं मिल सक

अग्नि में तपा कर तांबे की मिलावट से दूर करने पर स्वच्छ करना पडेगा, तब ही उसका पूर्ण मूल्य मिल सकेगा। इसी प्रकार आत्मा शुद्ध बुद्ध परमात्मा समझ लेने मात्र से आत्मा शुद्ध बुद्ध परमात्मा नहीं बन जाता, उसे तो तप त्याग संयम ध्यान की अग्नि में तपा कर कर्म मल से शुद्ध कर लेने के बाद ही शुद्धता और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति होने से ही पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता, उसके लिये तो विवाह करके विधि अनुसार अपनी पत्नी को गर्भ धारण कराना पड़ता है। ऐसी ही बात आत्मा के शुद्ध होने के विषय मे है। समझ लेने मात्र से ही आत्मा शुद्ध मुक्त स्वतन्त्र हो जाता तो यह जीव अनादि (अनन्त भूतकाल) से संसार में भ्रमण क्यों करता रहता।

दुख का निमित्त

'प्रत्येक कार्य निमित्त तथा उपादान कारण से सम्पन्न होता है,' यह कार्य-कारण-भाव का अटल नियम है। उपादान कारण यद्यपि स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है परन्तु वह तब तक कार्यकारी नहीं बन पाता जब तक कि उसे निमित्त कारण की सहायता न मिल पावे। हजारों मन कपास (कपड़े का उपादान कारण) पड़ा रहे किन्तु जब तक उसको सूत कातने वाले तथा कपड़े बुनने वाले व्यक्ति का निमित्त प्राप्त न होगा, तब तक वह कपास कपड़ा रूप नहीं बन सकती।

इसी प्रकार जीव संसार मे स्वयं भ्रमण करता है—यानी—भ्रमण करने की उपादान कारण रूप शक्ति स्वयं है किन्तु निमित्त कारण पौद्गलिक द्रव्य कर्म है। कर्मों के निमित्त [illegible] योनियों मे भ्रमण करता है। इतना ही नहीं

उसके क्रोध, मान, मोह आदि विकृत चैतन्य भाव तथा सुख गुण की विकृत दशा दुख आदि, ज्ञान गुण की विकृत अवस्था मतिज्ञान आदि चैतन्य परिणमन भी मोहनीय वेदनीय, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों के निमित्त से होता है। क्योंकि आत्मा के गुण बिना किसी अन्य निमित्त कारण के विकारी भी क्यों हो। जैसे कि जल का स्वभाव शीत है परन्तु अग्नि के निमित्त से वह गर्म हो जाता है।

आत्मा के क्रोध, मान, राग, द्वेष आदि भावों से कार्माण वर्गणाएं आकर्षित होकर (खिंचकर) मोहनीय आदि द्रव्य कर्मरूप होती हैं और उन मोहनीय आदि द्रव्य कर्मों के प्रभाव से आत्मा के क्रोध आदि परिणाम होते हैं। इस तरह बीज वृक्ष या पिता पुत्र की परम्परा की तरह भावकर्म तथा द्रव्यकर्म की परम्परा (भाव कर्म से द्रव्यकर्म, द्रव्यकर्म से भावकर्म, भावकर्म से द्रव्यकर्म आदि सिलसिला) अनादि समय से चली आ रही है।

संसारी जीव को, जब देशना (सद्गुरु उपदेश) आदि का शुभ निमित्त मिलता है तब उसके आत्म-अनुभूति (सम्यग्दर्शन) प्रगट होती है। विशेष ज्ञानी के निमित्त से विशेष ज्ञान और संयमी साधु के निमित्त से सदाचार की प्राप्ति होती है। इस तरह कर्म का बन्धन और कर्म की मुक्ति विभिन्न निमित्त-कारणों के अनुसार हुआ करती है।

वैसे उपादान कारण स्वरूप आत्मा तो सदा से विद्यमान है उसे अबतक योग्य निमित्त नहीं मिला, अतः वह मुक्त नहीं पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति पुरुष में है परन्तु यदि उसे निमित्त न मिले तो वह पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकता।

इसी तरह संहार के भ्रमण में जीव को कर्म-बन्धन निमित्त कारण है और कर्म-मोचन (मुक्ति) में सद्गुरु आदि निमित्त कारण है।

जैसे केवल निमित्त कारण कोई कार्य नहीं कर सकता, उसी तरह केवल उपादान कारण भी रंचमात्र कार्य नहीं कर सकता।

उत्पत्ति और नाश

'किसी भी सत् पदार्थ का न सर्वथा नाश होता है और न कभी किसी असत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है।' यह बात प्रारम्भ में युक्ति-पूर्वक बतलाई जा चुकी है। तदनुसार उत्पत्ति और विनाश सत् (सत्ताशील-मौजूद) पदार्थ की पर्याय (दशा) परिवर्तन का ही दूसरा नाम है। यानी—पदार्थ की पूर्व दशा का नष्ट होना ही उसकी नवीन दशा की उत्पत्ति है। बाल्य-अवस्था नष्ट होती है उसके स्थान पर यौवन अवस्था का उदय होता है, यौवन समाप्त होता है तो वृद्ध दशा उत्पन्न होती है, वृद्ध दशा समाप्त होकर मरण होता है, तो अन्य योनि में जन्म होता है। पहले बंधे हुए कर्म के निषेक उदय आकर झर जाते है उसी समय नवीन कर्म (समय प्रबद्ध) बन्ध जाता है। इस तरह पूर्व दशा का नाश, नवीन पर्याय की उत्पत्ति का कारण बनता रहता है।

कुछ महानुभाव इस स्वाभाविक कार्यकारण व्यवस्था का मनन न करके यों कहते हैं कि "नाश से उत्पत्ति नहीं होती, अतः केवल ज्ञानावरण के नाश होने पर केवल ज्ञान नहीं होता, अपितु [illegible]ज्ञान होने पर केवल ज्ञानावरण का नाश होता है।"

[illegible]की यह मान्यता उल्टी है, क्योंकि प्रतिबन्धक कारण के [illegible]कभी कार्य नहीं हुआ करता। यदि पूर्ण सूर्यग्रहण

हो, काली आंधी हो, गहरा कोहरा हो, अथवा घन पटल (भारी काले बादल) हो, तो दिन में भी सूर्य का प्रकाश नहीं हो सकता। सूर्य का प्रकाश तभी होगा, जब कि उसके प्रकाश के ऊपर लिखे प्रतिबन्धक कारण दूर हो जायंगे।

उसी तरह केवल ज्ञान का उदय तभी हो सकता है जबकि केवल ज्ञान के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) केवल ज्ञानावरण का पूर्ण क्षय हो जाता है। केवल ज्ञानावरण का क्षय हुए बिना केवल ज्ञान का उदय किसी प्रकार नहीं हो सकता। बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में जब चार घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं. तभी केवल ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय का प्रादुर्भाव रूप तेरहवां गुणस्थान होता है। तेरहवां गुणस्थान पहले हो जावे पीछे बारहवां गुणस्थान हटे' ऐसा समझना उल्टा है, अतएव गलत है।

यद्यपि पर्व पर्याय का नाश और उत्तर (अगली) पर्याय की उत्पत्ति एक साथ होती है किन्तु वहां पर्व पर्याय का नाश उत्तर पर्याय की उत्पत्ति कारण है।

नवीन पर्याय का उदय कार्य है और उसका कारण पूर्व पर्याय का नाश है। अतः केवल-ज्ञान का उदय कार्य है और उसका कारण है केवल ज्ञानावरण कर्म का क्षय। इसलिए "केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवल-ज्ञान होता है।" ऐसा निश्चित सिद्धान्त है।

क्रमबद्ध पर्याय

यह बात तो ठीक है कि समय की गति क्रम से होती है उदय होता है, प्रातःकाल होता है, क्रम से दोपहर, शाम अस्त, फिर रात्रि होती है। ऐसा न कभी हुआ, न होगा

(दिन का दोपहर) के बाद सूर्य-उदय हो, सूर्य उदय होते ही मध्यान्ह के बिना सन्ध्या (शाम) हो जावे। काल का प्रत्येक क्षण क्रम से बीतता है। इस तरह काल की क्रमबद्ध पर्याय चलती रहती है।

किन्तु अन्य पदार्थों की पर्यायें इस प्रकार सुनिश्चित नहीं है। विकृत पदार्थ-संसारी जीव और पुद्गल-की पर्यायें तो प्रायः अनिश्चित रहती हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार उन की चाल में अन्तर भी पड़ता रहता है। मनुष्य प्रायः दिन में जागते है और रात्रि में सोते है। इस पर से यह सिद्धांत बना लेना गलती है कि भविष्य मे उनके सोने जागने का कार्यक्रम (क्रमबद्ध पर्याय) ऐसा ही चलता रहेगा। कभी कभी ऐसा भी तो होता है कि वही मनुष्य रात भर जाग कर काम करते है और दिन मे सोते है।

कर्म की जो १० दशाएं बतलाई गई हैं उनसे भी अक्रमबद्ध पर्यायों का होना भी समर्थित होता है। बांधे हुए कर्म को समय से पहले उदय मे लाया जा सकता (उदीरणा) है, उसकी दीर्घ स्थिति को घटाया (अपकर्षण) जा सकता है, कर्मों की स्वल्प स्थिति को बढ़ाया (उत्कर्षण) जा सकता है, असाता को साता रूप आदि ढंग से बदला (संक्रमण) जा सकता है।

पदार्थों की जैसी क्रम, अक्रम-रूप पर्यायें होती हैं, सर्वज्ञ भगवान् अपने ज्ञान द्वारा वैसा ही जानते है। पदार्थों की क्रमबद्ध तथा अक्रमबद्ध पर्यायों की झलक उनके ज्ञान मे पड़ती है। अतः ज्ञेय [illegible]ों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान (जानना) होता है, उनके ज्ञान [illegible]र पदार्थों का परिणमन नहीं हुआ करता। पदार्थों की [illegible]लटने का कार्यकारण भाव अपने निमित्त उपादान

हो, काली आंधी हो, गहरा कोहरा हो, अथवा घन पटल (भारी काले बादल) हो, तो दिन में भी सूर्य का प्रकाश नहीं हो सकता। सूर्य का प्रकाश तभी होगा, जब कि उसके प्रकाश के ऊपर लिखे प्रतिबन्धक कारण दूर हो जायंगे।

इसी तरह केवल ज्ञान का उदय तभी हो सकता है जबकि केवल ज्ञान के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) केवल ज्ञानावरण का पूर्ण क्षय हो जाता है। केवल ज्ञानावरण का क्षय हुए बिना केवल ज्ञान का उदय किसी प्रकार नहीं हो सकता। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में जब चार घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं. तभी केवल ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय का प्रादुर्भाव रूप तेरहवां गुणस्थान होता है। तेरहवां गुणस्थान पहले हो जावे पीछे बारहवां गुणस्थान हटे' ऐसा समझना उल्टा है, अतएव गलत है।

यद्यपि पर्व पर्याय का नाश और उत्तर (अगली) पर्याय की उत्पत्ति एक साथ होती है किन्तु वहां पर्व पर्याय का नाश उत्तर पर्याय की उत्पत्ति कारण है।

नवीन पर्याय का उदय कार्य है और उसका कारण पूर्व पर्याय का नाश है। अतः केवल-ज्ञान का उदय कार्य है और उसका कारण है केवल ज्ञानावरण कर्म का क्षय। इसलिए "केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवल-ज्ञान होता है।" ऐसा निश्चित सिद्धान्त है।

क्रमबद्ध पर्याय

यह बात तो ठीक है कि समय की गति क्रम से होती है उदय होता है, प्रातःकाल होता है, क्रम से दोपहर, शाम अस्त, फिर रात्रि होती है। ऐसा न कभी हुआ, न होगा

(दिन का दोपहर) के बाद सूर्य-उदय हो, सूर्य उदय होते ही मध्यान्ह के बिना सन्ध्या (शाम) हो जावे। काल का प्रत्येक क्षण क्रम से बीतता है। इस तरह काल की क्रमबद्ध पर्याय चलती रहती है।

किन्तु अन्य पदार्थों की पर्यायें इस प्रकार सुनिश्चित नहीं है। विकृत पदार्थ-संसारी जीव और पुद्गल-की पर्यायें तो प्रायः अनिश्चित रहती हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार उन की चाल मे अन्तर भी पडता रहता है। मनुष्य प्रायः दिन में जागते है और रात्रि में सोते हैं। इस पर से यह सिद्धांत बना लेना गलती है कि भविष्य में उनके सोने जागने का कार्यक्रम (क्रमबद्ध पर्याय) ऐसा ही चलता रहेगा। कभी कभी ऐसा भी तो होता है कि वही मनुष्य रात भर जाग कर काम करते है और दिन में सोते है।

कर्म की जो १० दशाएं बतलाई गई हैं उनसे भी अक्रमबद्ध पर्यायों का होना भी समर्थित होता है। बांधे हुए कर्म को समय से पहले उदय में लाया जा सकता (उदीरणा) है, उसकी दीर्घ स्थिति को घटाया (अपकर्षण) जा सकता है, कर्मों की स्वल्प स्थिति को बढ़ाया (उत्कर्षण) जा सकता है, असाता को साता रूप आदि ढंग से बदला (संक्रमण) जा सकता है।

पदार्थों की जैसी क्रम, अक्रम-रूप पर्याये होती हैं, सर्वज्ञ भगवान् अपने ज्ञान द्वारा वैसा ही जानते हैं। पदार्थों की क्रमबद्ध तथा अक्रमबद्ध पर्यायों की झलक उनके ज्ञान मे पड़ती है। अतः [illegible] [illegible] के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान (जानना) होता है, उनके ज्ञान [illegible]र पदार्थों का परिणमन नहीं हुआ करता। पदार्थों के [illegible]लटने का कार्यकारण भाव अपने निमित्त [illegible]

कारणों के साथ है, सर्वज्ञ के ज्ञान के साथ नहीं है। सर्वज्ञ का ज्ञान तो ज्ञापक (जताने वाला या जनाने वाला) है, कारक (करने वाला) नहीं है।

अतः इस भ्रम में पड़े रहना बड़ी भारी गलती है कि "सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार जब हम को मोक्ष मिलनी होगी, तब अपने आप मिल जायगी: हम अपनी ओर से व्रत, तप, सयम धारण करने का यत्न क्यों करें ?"

क्योंकि जिस तरह उद्योग करने पर ही भोजन मिलता है भोजन करने पर ही भूख मिटती है, इसी तरह संयम धारण करने का उद्योग करने, ध्यान धारण करने आदि का उद्योग करने पर ही मुक्ति मिलती है। विना उद्योग किये स्वयं नहीं मिला करती।

यदि भगवान ऋषभनाथ तथा भरत मुनि-दीक्षा लेकर आत्म-ध्यान करने का उद्यम न करते तो वे कदापि मुक्त न होते।

यह तो मिथ्या सिद्धान्त नियतिवादियों का है कि 'जो होना है सो अवश्य होगा, उद्योग करना निष्फल है।'

सत्य सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक लौकिक तथा पारलौकिक (आगामी भव-सम्बन्धित तथा मुक्ति विषयक या धार्मिक) कार्य आत्मा के अपने उद्योग के अधीन है। भाग्य का निर्माण भी आत्मा स्वयं अपने अच्छे बुरे उद्योग से ही करता है जिसका कि कटुक या मधुर फल उसे इस भव या परभव में मिला करता है और अपने उद्योग से ही कर्मों की दृढ़ जंजीर को तोड़कर वह पूर्ण स्वतन्त्र होता है। क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध पर्याय उसके [illegible] उद्योग से हुआ करती हैं। "इस कारण जब हम अ[illegible] पान, व्याधि-मोचन (रोग दूर करने), व्यापार धन्[illegible]

व्यावहारिक कार्यों में भविष्य-ज्ञाता सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान या क्रमबद्ध पर्याय का विचार न करके उसके उद्योग में लगे रहते हैं, भूख लगने पर या शरीर में रोग हो जाने पर अथवा धन-उपार्जन के लिये यह नहीं सोचते कि "जैसी क्रमबद्ध पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार होनी है वैसी अवश्य होगी, हम क्यों भाग दौड़ करें।" तब आत्मा को उन्नत एवं शुद्ध करने वाले व्रत पालन, संयम धारण, तप त्याग करने, सामायिक स्वाध्याय करने, देव शास्त्र गुरु की भक्ति करने, जीव रक्षा करने; दान देने, परोपकार करने आदि धार्मिक काय करने में सर्वज्ञ के ज्ञान या क्रमबद्ध पर्याय का आश्रय लेकर उद्यम न करना, प्रमादी बने रहना, शरीर-पोषक कार्यो मे (विषयों के भोग उपभोग में), इन्द्रिय तर्पण में लगे रहना बहुत भारी भूल ही नहीं अपितु बड़ी भारी मूर्खता भी है।

सर्वज्ञ तो हमारे उन ही क्रम-अक्रम के कार्यों को जानेगा जैसाकि हम करेंगे फिर हम अपने धर्म-साधन के कार्यों में ढील क्यों डालें। जब हम अपने भविष्य से एव अपने मृत्यु-दिवस से स्वय अपरिचित हैं, सर्वज्ञ भगवान द्वारा जानी गई हमारी आगामी पर्यायो की सूची (लिस्ट) हमारे सामने नहीं, न उसका हमको कुछ ज्ञान है, तब अपना धर्म-साधन का उद्योग छोड़ देना या उसमें ढील करना मनुष्य भव को व्यर्थ खोना है।

"तुम किसी धर्म कार्य के कर्ता न बनो, किसी अन्य व्यक्ति ...कार्य करने से न रोको" ऐसी बाते कहना तथा इनका ...ा, संसार सागर मे स्वयं डूबना और दूसरों को डुबाना ...ात्मिक आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो में

पद पद पर मुनियों को तथा गृहस्थों को 'झाणज्झयणं मुक्ख, दाण पूजा मुक्खो' आदि वाक्यों द्वारा धर्म व्रत आदि आचरण करने का उपदेश दिया है।

इस कारण क्रमबद्ध पर्याय या सर्वज्ञ के ज्ञान का बहाना अथवा आश्रय लेकर आत्मा को उन्नत करने वाले धर्म कार्य करने में प्रमाद करना बहुत भारी भूल है।

हेय और उपादेय

आत्मा की परिणति (भाव) तीन प्रकार की हुआ करती है— १. अशुभ, २. शुभ, ३. शुद्ध। आत्मा के जिन भावों से दुखदायक अशुभ कर्मों का बन्ध होता है वह 'अशुभ परिणति' है। जिन भावों के द्वारा साता वेदनीय आदि शुभ कर्मों का बन्ध होता है वह 'शुभ परिणति' (परिणाम) है। और जिन भावों से शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का बन्ध नहीं होता, आत्मा की वह परिणति 'शुद्ध' कहलाती है।

इनमें से अशुभ परिणति तो हेय (छोड़ने योग्य) है क्योंकि उससे आत्मा को अशान्ति दुख क्लेश होता है, संसार में भटकना पड़ता है। शुद्ध परिणति उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है क्योंकि उसके द्वारा आत्मा को ससार-भ्रमण करने से मुक्ति मिलती है। किन्तु शुद्ध परिणति यकायक प्राप्त नहीं हो जाती, शुभ परिणति के द्वारा ही शुद्ध परिणति प्राप्त होती है, इस कारण शुद्ध परिणति की कारणभूत शुभ परिणति (सम्यग्दर्शन— आत्म-श्रद्धा सहित शुभ क्रियाएं) भी उपादेय हैं।

हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह... अत्याचार, धोखाधड़ी, क्रोध, अभिमान, छल...

ENGLISH SECTI